संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-..

वार्षिक मूल्य म. आ.से ५) रु.   वी. पी. से ५।।) रु.   विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २४]

विषयानुक्रमणिका

[अङ्क ७

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २८३

र्ष २४ : : : : अङ्क ७

आषाढ संवत् २०००

जुलै १९४३

राष्ट्र-सभा ।

सभा च मा समितिश्चावतां
प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षात्
चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥

(अथर्व० ७।१३।१)

" मेरी रक्षा ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति दोनों कर लें। प्रजाओं के पालनकर्ता नरेश की ये कन्याएँ (तत्तुल्य पालनीय, पर नरेश को) सत्य ज्ञान देनेवाली (सभाएँ) हैं। जिस (सदस्यसे) मैं मिलूँगा, वह मुझको शिक्षा देवे (प्रजा-पालन के बारे में उचित सूचना दे दे)। हे संरक्षक (सदस्यो !) मैं इन सभाओं में अच्छा ही सम्भाषण करूँगा (कभी अकल्याण करनेवाली वक्तृता न दूँगा)। "

राष्ट्रसभा के सदस्यों को लक्ष्य में रख कर नरेश की यह वक्तृता है।

मरुतोंके वीर-काव्यकी झाँकी ।

पाठकों को इस अंक में मरुतों के बारे में रचित वीररसपूर्ण काव्य की एक झाँकी मिलेगी । इस काव्य का भाषानुवाद किया जा चुका है और उस का मुद्रण भी समाप्त हुआ है । यह लेख उस पुस्तक की भूमिकामात्र है । इस प्रस्तावना के अवलोकन से पाठकों को मरुतोंके काव्य तथा उस में वर्णित विषय की जानकारी होगी ।

मरुतों के सूक्तोंमें एक बडे ही उच्च कोटिके एवं वीररस से लबालब भरे काव्य का दर्शन हमें होता है । बेशक इस के पठन तथा मनन से वीरतापूर्ण भावों का सृजन अवश्य ही होगा । ध्यान में रहे कि वीररस से सराबोर भाव प्रत्येक राष्ट्र के लिए सदैव अत्यन्त हितकारी एवं अनिवार्य हैं । वैदिक युग के नवयुवकों के अन्तस्तल में इस वीर-काव्य के पठन के फलस्वरूप वीररसपूर्ण तथा प्रभावशाली विचारधारा का सृजन हुआ करता था । कुछ मन्त्र ऐसे भी पाये जाते हैं कि, जिन्हे पढते वक्त नसनसों में खून खौलने लगता है और बाहु फडकने लगते हैं ।

ध्यान में रहे कि ये मरुत् वे वीर हैं जिन्हें ज्ञात नहीं कि पराभव किस चिडिया का नाम है । ये सदा के लिए अपराभूत हैं । ये वही वीर हैं जो मृत्यु के मुँह में समाविष्ट होनेतक उठ खडे हो लगातार जूझते रहते हैं, जो कभी रोते बिलखते नहीं, जो व्यर्थ की अनापशनाप बातों में अपना बहुमूल्य समय खोते नहीं हैं । निस्सन्देह, ये जिधर भी चले जायँ उधर विजयी ही बनेंगे; चाहे जिस दिशा में ये अभियान करें, पर हमेशा मार्ग पर से रुकावटें दूर होती हैं, आकाश दूर हटता है और अपने निजी पराक्रमके परिणामस्वरूप अनवरत रूप से कार्य करने के लिये उन्मुक्त क्षेत्र इन्हें मिलता है । इन वीरोंमें वह शक्ति छिपी हुई है, बाहुओं में वह सामर्थ्य विद्यमान है, जिस की बदौलत सुस्थिर एवं सुदृढ रूप से रहनेवाले दृढमूल बने शत्रुओं को भी पदभ्रष्ट होना पडता है । शत्रुदल को आमूलचूल विकंपित तथा विचलित करा देनेवाले, दुश्मनों को पदच्युत करने की क्षमता रखनेवाले और असंशय विजय पानेवाले ये वीर हैं । यदि नवयुवक, वीर मरुतोंके पराक्रम का बखान पढ लें तो विक्रम करनेकी उमंग का संचार उन में होगा और अगर महिलाएँ पठन करें तो वीर संतति का लाभ उन्हें होगा ।

एक विशाल अट्टालिका में ये वीर मरुत् सभी मिलकर रहते हैं, इन का रहनसहन समान स्वरूप का होता है, जिस में ऊँचनीच का भेदभाव तनिक भी नहीं पाया जाता है, ये सभी इकट्ठे हो मातृभूमि के कल्याणार्थ सचेष्ट बने रहते हैं, ये प्राणों की तनिक भी पर्वाह न करते हुए युद्ध करते हैं, ये खूब बनाव-सिंगार करके बनठनके बाहर निकलते हैं और सातसात की कतार में आगे बढते हैं । इन का आक्रमण सामूहिक ढंग से हुआ करता है । शत्रुदलपर चढाई करते समय इनके वेगके कारण भूमि हिलने लगती है और सभी लोग सहमेसहमे किसी अच्छे आश्रयस्थान में जाकर निवास करते हैं । इनके सारे हथियार एक ही आकारप्रकारवाले होते हैं । सबका पहनावा केसरिया रँगमें रँगा हुआ दीख पडता है, जिसपर स्वर्णमुद्राओं की मालाएँ सुहाने लगती हैं । ये सभी युवक एवं समान वेशधारी होते हैं । आधुनिक योरपीय प्रणालीके सैनिकोंके वर्णन में तथा उपर्युक्त मरुतों के वर्णनमें कितनी भारी समानता है, सो देखने योग्य है ।

वर्तमान कालमें सैनिक बैरक में निवास करते हैं, तुल्य पहनावा पहन लेते हैं, सभी की अवस्था मँझली होती है अर्थात् उनमें छोटा या बूढा कोई भी नहीं मिलता है, सभी का रहनसहन अधिकतया एक ही स्वरूप का होता है । यह वर्णन कवायद करनेवाले सैनिकोंकासा दीख पडता है । हाँ, यह सचमुच बडे आश्चर्य की बात है कि इतने प्राचीन वैदिक युग में कवायद करनेके अभ्यस्त सेना का वर्णन उपलब्ध होता है । इस विषय में सन्देह के लिये कोई गुञ्जायश नहीं दीख पडती है ।

यदि लोगों को वेदमन्त्रों के अर्थ की जानकारी होती तो संभव था कि भारतीय नरेशों को कवायदी सेना प्रस्थापित करने की कल्पना सूझती और उसमें प्रगति होनेपर योरपीय सेनाके सम्मुख टिकना असंभव नहीं होता । लेकिन, दौर्भाग्य से लोग केवलमात्र वेदका पठन एवं अर्थशून्य ढंग से कंठ करने में गौरव मानने लगे जिस से उसमें निर्दिष्ट कवायदी सेना के आदेशों की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ । इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन ज्ञान-भाण्डार के मनन करने की आवश्यकता कितनी बडी है ।

हम पाठकों से नम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि वे इस दृष्टिकोण से मरुतों के इस वीर-काव्य का मनन-पूर्वक अध्ययन करें ।

' संपादक '

वैदिक स्वप्नविज्ञान।

(लेखक- श्री० पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल कांगडी)

(३)

दूसरे स्वप्न को 'पराभूति का पुत्र' कहने का भाव यह भी है कि जो मनुष्य सदा स्वप्न में ही विचरता है, वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पराभव को प्राप्त होता है। ऐश्वर्य भी सदा उस से दूर रहता है।

परन्तु पराभूति से भद्र स्वप्न भी पैदा होता है। एक मनुष्य दूसरे से जब पराभव को प्राप्त होता है, तब साधारण प्रवृत्ति तो यह है कि पराभव को प्राप्त करनेवाले मनुष्य में अपने पराभवकर्ता के प्रति ईर्षा द्वेष आदि पैदा होते हैं। परन्तु दूसरी तरफ ईर्षा न पैदा होकर स्पर्धा भी पैदा हो सकती है। ऐसी अवस्था में पराभव मधुर पराभव होता है। इस पराभव में मनुष्य स्पर्धा के बल पर आगे बढने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार पराभूति भद्र स्वप्नों को पैदा करनेवाली भी है।

देवजामियोंका पुत्र—

अथर्व. १६।५।८ में स्वप्न को 'देवजामियों का पुत्र' बताया गया है। वहां आता है कि—

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि० ॥

'हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्तिको जानते हैं, तू देवजामियों का पुत्र है।' अब विचारणीय यह है कि देवजामि किसे कहते हैं? देव-जामि दो शब्दों देव+जामिसे मिलकर बना है। जामि के अनेक अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ बन्धु भी है। देवराज यज्वाने जामि का अर्थ "सनाभयः" भी किया है। सनाभि उन बन्धुओं को कहते हैं जो कि एक नाभि से पैदा होते हैं। इस प्रकार देवजामि का अर्थ हुआ "देवताओंके सनाभि बन्धु।" अब विचारणीय यह है कि ये देवों के बन्धु कौन हैं? ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकों स्थलों पर यह आता है कि असुर और देव दोनों प्रजापति के पुत्र हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल हम यहाँ दिखा देते हैं। तां. १८।१।२ में आता है कि "**देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वयाः पुत्राः आसन्**" अर्थात् देव और असुर ये प्रजापतिके दो पुत्र हैं। इसी प्रकार शत. १।७।२।२२ में भी आता है "**देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः**" अर्थात् देव और असुर ये दोनों प्रजापति के पुत्र है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों से यह स्पष्ट पता चल रहा है कि देव और असुर दोनों भाई भाई है और प्रजापति इनका पिता है। इसलिये स्वप्न के प्रकरण में आये "देवजामि" अर्थात् देवताओं के बन्धु शब्द से असुरों का ग्रहण करना चाहिये।

अब फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि वे असुर कौन हैं जो कि स्वप्न को पैदा करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि इस स्वप्न के प्रकरण में असुर से तात्पर्य आसुरी भावों से है। क्योंकि आसुरी भाव ही मनुष्य में दुःस्वप्न्यादि की उत्पत्तिके कारण बनते हैं। ये आसुरी भाव और दिव्य भाव मनरूपी प्रजापति के पुत्र हैं। आसुरी भाव और दिव्य भाव दोनों को पैदा करने के कारण मन प्रजापति कहलाता है। तै, ३।७।१।२ श. ४।१।१।२२ में मनको प्रजापति कहा भी है। वहाँ आता है "**प्रजापतिर्वै मनः**" अर्थात् मन प्रजापति है। मन से कभी दिव्य भाव पैदा होते हैं, कभी आसुरी भाव पैदा होने लगते हैं। इसलिये इन दोनों का उत्पत्तिस्थान एक होने के कारण वे दोनों परस्पर बन्धु कहलाते हैं।

इस प्रकार देवजामि आसुरी भाव हुए और दुष्ट स्वप्न इन आसुरी भावों के पुत्र कहलाये।

दूसरे दुष्ट स्वप्नों को देवजामि का पुत्र कहने का भाव यह भी हो सकता है कि, सदा स्वप्न लेनेवाले मनुष्य का मन आसुरी भावों की उत्पत्ति में कारण बनता है।

देवजामि का एक और भी अर्थ हो सकता है वह यह कि देव अर्थात् इन्द्रियों की बहनें। ये इन्द्रियों की बहनें मानसिक वृत्तियां हैं। ये वृत्तियां अच्छी व बुरी दोनों प्रकार की होती हैं। इनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता

है। इन दोनों में से जैसी वृत्तिका इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होगा, वैसे ही स्वप्न मनुष्य को आयेंगे। अच्छी वृत्ति का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हुवा तो अच्छे स्वप्न आयेंगे। इस प्रकार अच्छे स्वप्न भी देवजामि के पुत्र हो सकते हैं।

पैप्पलाद संहिता अथर्ववेद की एक शाखा है। उस में शौनकीय शाखा से कुछ भिन्नता पायी जाती है। स्वप्न-संबंधी भिन्नताको हम यहाँ स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

शौनकीय शाखा में जहाँ स्वप्न को पुत्र बताया गया है, वहाँ मातृरूप में केवल अभूति, निर्भूति आदि का ही परिगणन किया गया है। परन्तु पैप्पलाद संहिता में मातृस्थानीय अभूति आदियों के साथ साथ पिता आदि का भी निर्देश मिलता है। वहाँ आता है-

" विद्म ते स्वप्न जनित्रं पाप्मनः पुत्रोऽसि अभूत्या अधिजातः ॥' [अथर्व. १७।२४।१]

अर्थात् ' हे स्वप्न ! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। तू पाप का पुत्र है और मातृस्थानीय अभूतिसे पैदा हुआ है।'

यहाँ पाप्मा को स्वप्न का पिता बताया गया है और अभूति को माता। इससे स्पष्ट है कि, पाप्मा और अभूति का परस्पर सम्बन्ध है। वेद के इस वर्णन से भी स्पष्ट है कि, जो मनुष्य पाप करते हैं वे अभूति के शिकार बनते हैं। और पाप्मा तथा अभूति से उत्पन्न होनेवाले स्वप्न भी इन्हें आ दबाते हैं। अतः दुष्ट स्वप्नों से बचने का उपाय यह है कि, हम अभूति अर्थात् ऐश्वर्याभावादि के शिकार न हों। और इस अभूति को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि हम पापों से बचें।

आगे पै. १७।२४।५ में आता है कि—

" विद्म ते स्वप्न जनित्रं वरुणस्य पुत्रोऽसि वरुणान्या अधि जातः ॥ "

अर्थात् ' हे स्वप्न ! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। तू वरुण का पुत्र है और वरुणानी तेरी माता है।'

अब विचारणीय यह है कि, यहाँ स्वप्न को वरुण और वरुणानी का पुत्र कहने का क्या भाव है ? वेद में वरुण को रज्जुवाला, पाशवाला बताया गया है। अर्थात् वह दुष्टों को घेरकर अपने पाश में बांधता है। इसलिये कई विद्वान् इसे राष्ट्र में पुलिस-विभाग का अधिकारी मानते हैं। कुछ भी हो, यह वरुण दुष्टों को अपने पाश में बांधता है।

शत. १२।७।२।१७ में आता है कि-

वरुणो वा एतं गृह्णाति
यः पाप्मना गृहीतो भवति।

अर्थात् 'वरुण उसको अपने पाश में पकड लेता है जो कि पाप्मा से जकडा हुआ होता है।' इसलिये दुष्टों का पकडना वरुण का काम है और यही कार्य राष्ट्र में पुलिस का है। यह प्रायः सभी जानते हैं कि, जिस मनुष्य को कैदखाने आदि बन्धन में डाल दिया जाये, उसे बुरे बुरे स्वप्न आते हैं। बन्धन से छूटने के लिये वह अनेकों प्रयत्न करता है। कैदखाने व बंधन में पडे हुए मनुष्य में नाना भांति के बुरे बुरे तथा बुद्धिप्रतिकूल विचार उठते हैं। और वह बंधन में डालनेवाले के विरुद्ध अनेकों षड्यन्त्र सोचता रहता है। और रात्रि में सोते हुए भी वह तत्सम्बन्धी बुरे बुरे स्वप्न देखा करता है। अथवा दूसरा भाव यह है कि, बन्धन में फंसकर मनुष्य की शक्ति क्षीण-सी हो जाती है और वह दुःख में फंसा हुआ नाना भांति के भय, दुःख तथा विपत्ति आदि के बुरे बुरे स्वप्न देखा करता है। इस प्रकार वरुण के भय से उत्पन्न दुस्वप्नों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं-

१. प्रतिहिंसा सम्बन्धी दुष्वप्न्य।

२. निराशामें भयावने तथा आत्मविपत्तिसम्बन्धी स्वप्न।

क्योंकि वरुण के कारण ये स्वप्न पैदा होते हैं, इसलिये वरुण को इन का पिता कह दिया गया है। आगे वरुणानी को दुष्वप्न्य की माता बताया गया है। अब विचारणीय यह है कि, यह वरुणानी कौन है ? हमारी समझ में वरुणानी वह मानसिक वृत्ति है जो कि अपराध करनेपर वरुण के भय से मनुष्य में पैदा होती है। क्योंकि वरुण और और उसके भय से उत्पन्न मानसिक वृत्ति ये दोनों मिलकर स्वप्न को पैदा करते हैं। इन दोनों में से कोई एक न हो तो स्वप्न पैदा नहीं हो सकता। वरुण न हो तो भय की वृत्ति हो ही नहीं सकती। क्योंकि जब भय पैदा करनेवाला न हो तो भय की वृत्ति क्यों पैदा होगी ? और यदि वरुण तो हो पर वह भय की वृत्ति पैदा न हो तो भी दुष्वप्न्य पैदा न होंगे। इसलिये दोनों के होनेपर ही स्वप्न पैदा होते हैं। और चूंकि वृत्ति से स्वप्न पैदा होता है, अतः वह मातृस्थानीय है।

अगले मन्त्र में वैदिक पुरुष कहता है कि ' हे वरुण से उत्पन्न बुरे स्वप्न ! तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं । तू शत्रु के प्रति जा।' अर्थात् हम वेदानुकूल आचरण रखनेवाले हैं। वरुण के पाशों में हम नहीं फंस सकते । इसलिये वरुणसे उत्पन्न जो बुरे स्वप्न हैं, वे वेदाज्ञानुकूल आचरण न रखनेवाले हमारे शत्रुओं को प्राप्त हों।

शारीरिक क्षेत्र में वरुण का अर्थ अपानवायु है। यह अपानवायु शरीर में यही कार्य करता है जो कि, राष्ट्र में वरुण अधिकारी करता है । अर्थात् यह अपानवायु शरीररूपी राष्ट्र में से दूषित मलों व शरीर के लिये अनावश्यक पदार्थों को मूत्र, मल व बीमारी आदि के रूप में बाहिर निकाल देता है। ये दूषित मल दिमाग व शरीरमें फैलकर विकार पैदा कर देते हैं, इस से मनुष्योंको बुरे बुरे स्वप्न आते हैं। पै. १७।२४।६ में कहा है कि–

" साम्नः पुत्रोऽसि राज्या अधि जातः "

अर्थात् ' हे स्वप्न ! तू साम का पुत्र है और रात्रि से पैदा हुआ है।' विचारणीय यह है कि, साम और रात्रि किस प्रकार स्वप्न की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। साम का एक सामान्य अर्थ है शान्त होना, अर्थात् शरीर तथा इंद्रियादिकों से परिश्रमादि का न करना। रात्रिमें शरीरादि का शान्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसलिये साम और रात्रि का बहुत स्वाभाविक सम्बन्ध है। परन्तु साम शब्द को हमें रात्रि तक ही सीमित नहीं करना चाहिये। दिन के साथ भी इस का सम्बन्ध है। वह इस प्रकार कि जो मनुष्य शरीर तथा इंद्रियादिकों से परिश्रम नहीं करते वे दिवा स्वप्न तो लेते ही हैं, परन्तु रात्रि में भी बहुत स्वप्न देखा करते हैं। रात्रि में एक तो मनुष्य को वैसे ही बहुत स्वप्न आते हैं, परन्तु दिन में यदि वह बिल्कुल परिश्रम न करता हो तो वह मनुष्य और भी ज्यादः स्वप्नों का शिकार बनता है। एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये कि, यहाँपर साम शब्द मानसिक समता आदि ऊँचे अर्थ में नहीं आया प्रतीत होता है। यदि यहाँ साम का मानसिक समता आदि उत्कृष्ट अर्थ होता तो स्वप्न की उत्पत्ति में वह कारण न बनता।

साम का अर्थ यहाँपर परिश्रम आदि न कर के आलसियों की तरह पडे रहना, ऐसा समझना चाहिये। ऐसे परिश्रमरहित आलसी मनुष्यों को रात्रि में बहुत बुरे बुरे स्वप्न आते हैं। यह प्रत्येक मनुष्य स्वयं अनुभव कर सकता है कि, जब मनुष्य शरीरादि इंद्रियों से कोई कार्य नहीं ले रहा होता है, तथा चुप चाप बैठा होता है, तब उस के मन में बुद्धिप्रतिकूल अच्छे व बुरे सभी प्रकार के विचार पैदा होते हैं। प्रश्न होता है, यह क्यों ? इस का कारण यह है कि, मनुष्य का मन कभी भी कार्यरहित या निकम्मा नहीं बैठता। उसे हर समय कोई न कोई कार्य अवश्य चाहिये। दिन में जब हम जिस जिस इंद्रिय का कार्य कर रहे होते हैं, मन उसी तरफ लगा रहता है। और जब शरीर और इंद्रिय कार्य करना छोड देते हैं, तब मन अपनी उडानें लेने लगता है।

रात्रि में भी शरीर व इंद्रियां तो शांत होती हैं, परन्तु मन को तो कार्य अवश्य करना है। जब शरीर व इंद्रियों से उसे अवकाश मिलता है, तब वह स्वतन्त्र रूपसे अपना कार्य प्रारम्भ करता है, नानाविध स्वप्न देखता है। इस लिये साम स्वप्न की उत्पत्ति में बहुत बडा कारण है। और यह साम अवस्था रात्रि में अवश्य होती है, इसलिये रात्रि में मनुष्य प्रायः स्वप्न देखते ही हैं।

पै. १६।२४।११ में कहा है कि–

गन्धर्वाणां पुत्रोऽसि अप्सरोभ्यो अधि जातः।

अर्थात् 'हे स्वप्न ! तू गन्धर्वों का पुत्र है और अप्सराओं से पैदा हुआ है।' ब्राह्मणग्रन्थों में गन्धर्व और अप्सराओं के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है–

गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे तन्मे युष्मासु [गन्धर्वेषु] । [जै. उ. ३।२५।४]

अर्थात् ' मुझे सुगन्धित पदार्थ प्राप्त हों, आनन्द व खुशीमें मैं रहूं, ऐसा जो चाहते हैं वे गन्धर्व कहलाते हैं।'

शत. ९।४।१।४ में गन्धर्व और अप्सराओं के सम्बन्ध में कहा है–

गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति।

अर्थात् 'गन्धर्व और अप्सरायें गन्ध और रूप से ही व्यवहार करते हैं।' अर्थात् जो मनुष्य व स्त्रियें सुगन्धित तेल व पाउडर आदि लगाना अपने जीवन का परमोद्देश्य समझते हैं, और एक दूसरे के रूपपर ही मोहित हो जाते हैं, वे ब्राह्मणग्रन्थों में गन्धर्व और अप्सराओं के नाम से

कहे गये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में अन्यत्र भी ऐसा ही वर्णन आता है।

रूपमिति गन्धर्वा उपासते। [श. १०।५।२।२०]

अर्थात् गन्धर्व गुणों को नहीं देखते, वे रूप की ही उपासना करते हैं।

योषित्कामा वै गन्धर्वाः। [श. ३।२।४।३]

स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः। [ऐ. १।२७]

अर्थात् गन्धर्व सदा स्त्रियों का चिन्तन करते रहते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य व स्त्रियें तेल व पाउडर आदि सुगन्धित पदार्थ लगाते हैं और अपने को सुन्दर रूपवाला बनाने के प्रयत्न में सदा लगे रहते हैं और गुणोंको न देखकर एक दूसरेके रूपपर ही मोहित हो जाते हैं, उन मनुष्यों व स्त्रियों को बहुत बुरे बुरे स्वप्न आया करते हैं। यह विषय-वासना की इच्छा कभी तृप्त होनेवाली नहीं है। इस इच्छा को जितना तृप्त करने का प्रयत्न किया जाये, यह उतनी ही बढती है। इसलिये भोगविलास में पडे हुए मनुष्य व स्त्रियें अतृप्त इच्छा में बुरे बुरे स्वप्नों को देखते हैं।

इस प्रकार पैप्पलाद संहिता के स्वप्न-सम्बन्धी कुछ मन्त्रों की व्याख्या हमने आप के सामने की। इसी प्रकार पैप्पलाद संहिता में स्वप्न के सम्बन्ध में और भी अनेकों मन्त्र आते हैं जो कि फिर कभी अवसर मिलने पर हम आप के सामने रखेंगे।

शौनकीय व पैप्पलाद संहिताओं के स्वप्नसम्बन्धी इस प्रकरण में स्वप्न को पुत्ररूप में बताया गया है। पुत्ररूप में वर्णन करना वेद की एक शैली है। इस संसारमें किसी का पूर्ण चित्र या गुण व अवगुणों का पूर्ण अवतरण कहीं देखना हो तो वह पुत्र में दिखाई देगा। वेद भी पुत्ररूप में यदि किसी का वर्णन करता है तो हमें यही भाव प्रतीत होता है। वेद के धुरन्धर विद्वानों से विनम्र प्रार्थना है कि वे वेद की इस शैली पर अपने विचार प्रकट करें।

इस प्रकार पुत्ररूप में वर्णित स्वप्न के स्वरूप का विवेचन करने का हमने प्रयत्न किया। अब हम स्वप्नसंबंधी अन्य मन्त्रों की व्याख्या आप के सामने रखते हैं।

२. स्वप्न का स्वरूप।

(अथर्ववेद १९ कां० ५६ सूक्त)

स्वप्न के सम्बन्ध में अथर्ववेद के १९ वें काण्ड का ५६ वां सूक्त विशेष विचारणीय है। प्रथम मन्त्रमें यह दिखाया गया है कि, शरीर के साथ स्वप्न का क्या संबंध है? जिस प्रकार वायसराय इंग्लैण्ड से नियुक्त होकर आता है और भारतवर्ष का शासनसूत्र अपने हाथ में लेता है, उसी प्रकार यह स्वप्न भी यमलोक से हमारे शरीर का अधिष्टाता बनकर आता है। स्वप्नावस्था में हम इतने एकाग्र होते हैं कि, हमारे शरीर के सब अवयव इस स्वप्न के अधीन कार्य कर रहे होते हैं। हम कोई भी ऐन्द्रियिक कार्य करें उस में यह आवश्यक नहीं कि हमारे जीवनीय अंग (Vital organs) हमारा उस कार्य में साथ दे रहे हों। परन्तु स्वप्न एक ऐसी शक्ति है कि ये जीवनीय तत्व भी स्वप्न की आज्ञा सुनने के लिये अन्य सारे शरीर के साथ बद्धाञ्जलि हो खडे हो जाते हैं। और स्वप्न की आज्ञा में इन जीवनीय अंगों के कार्यों में न्यूनता या बिल्कुल रुक जाना भी हो सकता है।

शायद इसीलिये स्वप्नावस्था की अन्तिम अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि में बैठा हुवा व्यक्ति बहुत दीर्घकाल तक बिना कुछ खाये पिये रह सकता है। क्योंकि उसे भूख नहीं लगती। और भूख न लगने का कारण यह प्रतीत होता है कि, उन अंगोंने कार्य करना बंद किया हुवा होता है। इसलिये स्वप्न हमारे शरीर का बहुत बडा अधिष्ठाता है। जीवात्मा के समकक्ष नहीं, तो उसके बाद तो अवश्य है। इसी भाव को बताने के लिये मन्त्र में कहा कि, "**एकाकिना सरथं यासि**" अर्थात् स्वप्न जीवात्मा-वाले रथ पर अकेला होकर चलता है। 'सरथ' शब्द से यह भाव टपक रहा है कि, इस शरीररूपी रथ का स्वामी कोई और भी है, और वह जीवात्मा है। परन्तु स्वप्न के एकाकी चलने का भाव यह है कि, जिस समय स्वप्न प्रबल होता है उस समय हमारे शरीरपर एक प्रकार से जीवात्मा का अधिकार जाता रहता है।

अगले मन्त्र में स्वप्न के प्रकट होनेका तरीका बताया

गया है। हमारी चेतना के जो ये दो गुण हैं कि, प्रकृति का अवलोकन करना और फिर उस को अपने अन्दर रख लेना। ये दोनों गुण 'बन्धः' और 'विश्वचयाः' विशेषणों से प्रकट हो रहे हैं। वैदिक सिद्धान्त के आधार पर जीवात्मा अनादि और अनन्त है। प्रकृति का अवलोकन वह अनादि काल से करता आ रहा है। उस की अनादि काल से अनुभूत घटनाएँ उस की चेतना के गुह्य स्तर में सञ्चित हैं, बंधी हुई हैं। वे समय पर आकर स्वप्न में कभी कभी प्रकट भी हो जाया करती हैं। सामान्य प्रतिदिन के स्वप्नके सम्बन्धमें इस मन्त्र की व्याख्या स्पष्ट है।

अगले तीसरे मन्त्र में अच्छे स्वप्न का वर्णन है। जिस प्रकार बुरा स्वप्न सम्पूर्ण शरीर का अधिष्ठाता होता है, शरीर का प्रत्येक अवयव स्वप्न की आज्ञा में कार्य करता है, उसी प्रकार भद्र स्वप्न के अधीन भी सारा शरीर कार्य करता है। इन दोनों में भेद केवल इतना ही है कि, बुरा स्वप्न आसुरी वृत्तिसे सम्बन्ध रखता है और अच्छा स्वप्न दैवी वृत्ति से।

चौथे मन्त्रमें यह बताया गया है कि, जिस समय हमारे अन्दर स्वप्नगत वार्तालाप चल रहा होता है, उस समय हमारे शरीर की देव और पितृ दोनों शक्तियां उसे नहीं जान रही होतीं। इन दोनों शक्तियों के सम्बन्धमें मन्त्रकी व्याख्या में ही हमने स्पष्टीकरण किया है।

अगले मन्त्र में स्वप्न के आधार पर निम्न चार प्रकार के मनुष्यों का परिगणन किया गया है–

वे चार प्रकार के मनुष्य निम्न हो सकते हैं–

१. सक्रिय-मनुष्य

क. दुर्जन– सदा षड्यन्त्र रचनेवाला

ख. सज्जन– कर्मयोगी

२. निष्क्रिय– मनुष्य

क. प्रमादी व आलसी– दुष्ट स्वप्न लेनेवाला

ख. ज्ञानी व योगी– श्रेष्ठ स्वप्न लेनेवाला

अगले छठे मन्त्र में यह उपदेश दिया गया है कि, राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे व बुरे स्वप्नों का ज्ञान होना चाहिये। और बुरे स्वप्नों से बचने का उन्हें उपाय करना चाहिये।

अब हम मूल की व्याख्या करते हैं–

अथर्व १९ कांड ५६ सूक्त में अच्छे व बुरे दोनों प्रकारके स्वप्नों के ऊपर कुछ प्रकाश डाला गया है, वह निम्न प्रकार है।

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ॥ [अ. १९।५६।१]

"हे स्वप्न तू [यमस्य लोकात्] यमके लोक से [अधि आ बभूविथ] अधिष्ठित होकर आया है। [धीरः] तू धैर्यवान् है, [प्रमदा] बडे आनन्द से [मर्त्यान्] मरणधर्मा मनुष्यों को [प्रयुनक्षि] अपने व्यापार में लगाये रखता है। [विद्वान्] विद्वान् की तरह [असुरस्य योनौ] आसुरी भावों के उत्पत्ति-स्थान मनमें [स्वप्नं मिमानः] स्वप्न का निर्माण करता हुवा [एकाकिना] अकेले ही (स्वप्नके समय में) [सरथं] जीवात्मावाले रथ पर आरूढ होकर [यासि] चलता है।"

अब हम इस मन्त्र का भावार्थ दिखाते है। मन्त्र में कहा गया है कि 'हे स्वप्न! तू यम के लोकसे अधिष्ठित होकर आया है।' अब विचारणीय यह है कि यह यमलोक कौनसा हो सकता है, जहां से कि स्वप्न अधिष्ठित होकर आता हो। स्वप्न को अधिष्ठाता बनानेवाला यह यमलोक हमारे शरीर में ही कोई स्थान होना चाहिये। उपर्युक्त मन्त्र से भी यही भाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि यमलोक हमारे शरीर में ही कोई विशेष स्थान है।

अब हम शरीर में विद्यमान यमलोक के स्पष्टीकरण के लिये एक और मन्त्र पर विचार करते हैं।

ऋ. १।३५।६ में एक मन्त्र आता है, जो कि इस प्रकार है।

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्। आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्।

अर्थात् सविता के तीन द्युलोक हैं, दो तो समीप में स्थित हैं, और उनमें से एक यम के भुवन में विराजमान है। जिस प्रकार [रथ्यं] रथके सब अवयव [आणिं] अक्षके दोनों ओर विद्यमान कील के ऊपर आश्रित हैं, उसी प्रकार अमृत रूप सब इन्द्रियादि देव उन द्युलोकों पर आश्रित हैं। जो तत्त्ववेत्ता इन बातोंको जानता हो, वह हमें बतावे।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सविता के तीन द्युलोक बताये गये

हैं अर्थात् ये तीन द्युलोक सविता के निवास-स्थान हैं। सविता का काम प्रेरणा करने का है। जैसा कि शत. १।१। २।१७ में आता है कि '**सविता वै देवानां प्रसविता**' अर्थात् सविता देवताओंका प्रेरक है। इस ब्रह्माण्ड में प्रेरणा का स्थान द्युलोक है, परन्तु हमारे शरीरमें प्रेरणा का स्थान मस्तिष्क है, अर्थात् सम्पूर्ण शरीर की गति विधियों का नियन्त्रण तथा प्रेरणा आदि मस्तिष्क से ही होती है। इसलिये वैदिक भाषा में मस्तिष्क को सविता का स्थान कहा जा सकता है। इस मस्तिष्क को द्युलोक तो वेद में अनेकों स्थलों पर कहा गया है। इस मन्त्रमें इस मस्तिष्क रूपी सविताके लोक को तीन द्युलोकों में विभक्त किया गया है। अर्थात् मस्तिष्करूपी द्युलोक के तीन विभाग बताये गये हैं। ये तीन विभाग इस प्रकार हो सकते हैं। एक तो मस्तिष्क (Cerebrum), दूसरा अनुमस्तिष्क (Pons और Cerebellum) और तीसरा सुषुम्णा-शीर्षक (Madulla oblongata)। इस तीसरे द्युलोक के लिये मन्त्र में कहा गया है कि, यह यम के भुवन में विराजमान है। यह तीसरा द्युलोक अर्थात् सुषुम्णाशीर्षक गर्दन के पिछले हिस्सेमें है इसलिये आपाततः गर्दन का पिछला हिस्सा यम का भुवन कहलायेगा। और फिर अथर्व. ९।७।१ में विराट् शरीर का वर्णन करते हुये लिखा है कि, 'अग्निर्ललाटं यम' कृकाटम्' अर्थात् अग्नि ललाट है और यम कृकाट है। कृकाट गर्दन के पिछले हिस्से को कहते हैं। वाचस्पत्याभिधानकोषने कृकाट का अर्थ घाटा किया है। और वाचस्पत्य, शब्दकल्पद्रुम, आपटे, विलियम मौनियर आदि सबने कृकाट व घाटा का अर्थ गर्दन का पिछला हिस्सा किया है। इस से यह स्पष्ट है कि, हमारे शरीर में यम का निवास गर्दन के पिछले हिस्से में है। इसलिये यही गर्दन का पिछला हिस्सा यमलोक व यम-भुवन हो सकता है।

अब विचारणीय यह है कि, इस गर्दनके पिछले हिस्से अर्थात् यम के लोक में सविता का तीसरा द्युलोक कौन-सा हो सकता है? अन्य दोनों मस्तिष्कों की तरह प्रेरणा व नियंत्रण आदि का काम गर्दन में सुषुम्णाशीर्षक (Madulla oblongata) का है। इसलिये यह सुषुम्णाशीर्षक सविता का तीसरा द्युलोक हुवा। ब्रह्माण्ड में जो कार्य द्युलोक का है, वही कार्य हमारे शरीर में इन तीनों द्युलोकों का है। सुषुम्णाशीर्षक हमारे शरीरमें श्वास प्रश्वास संस्थान (Respiratory system), रक्त संस्थान (Circulating system) और नाडी संस्थान (Nervous system), अन्नपाचन, हृदय आदि आन्तरिक गतिविधियों को प्रेरणा देता है और इनपर यही नियंत्रण रखता है। या यह भी कह सकते हैं कि इन जीवनीय अंग [Vital organs] का केन्द्र सुषुम्णा-शीर्षक में है। इसलिये यह सुषुम्णाशीर्षक सविता का तीसरा द्युलोक है। यह तीसरा द्युलोक यमके साम्राज्यमें है।

अब स्वप्न के प्रकरण में जो यह कहा कि 'हे स्वप्न ! तू यमलोकसे अधिष्ठित होकर आया है।' इसका भाव यह है कि, सुप्तावस्था में बुद्धि व इन्द्रियादिकों के कार्य तो बन्द हो जाते हैं, परन्तु सुषुम्णा शीर्षकसे सम्बन्ध में रखने-वाले आन्तरिक कार्य होते रहते हैं। एक प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि सुप्तावस्था में सुषुम्णाशीर्षक ही सारे शरीर का स्वामी होता है। परन्तु स्वप्नावस्था में स्वप्न इस सुषुम्णाशीर्षक का स्थान ले लेता है। सारे शरीर की सुप्तावस्था की गतिविधियां सुषुम्णाशीर्षक के स्थान पर स्वप्न के अधीन हो जाती हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो स्वप्न में होता भी यही है। भय का स्वप्न हो तो श्वास प्रश्वास आदि आन्तरिक क्रियाएँ भय के अनुसार ही गतिविधि करती है। और यदि आनन्द का स्वप्न हो तो शरीर की सारी क्रियाएँ भी उसी के अनुसार अपना कार्य करती हैं। इस प्रकार स्वप्नावस्था में सुषुम्णाशीर्षक के स्थान पर यह स्वप्न यमलोक से हमारे शरीर का अधिष्ठाता बनकर आता है। इसी बात को मन्त्र में इस प्रकार कहा कि 'हे स्वप्न ! तू [**यमस्य लोकादध्या बभूविथ**] यमलोकस्य से अधिष्ठाता होकर आया है। आगे कहा कि-- '**प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि**' अर्थात् 'स्वप्न बडे आनन्द से मनुष्यों को अपने व्यापार में लगाये रखता है।' सुख के प्रसंग में तो मनुष्य नाना भांति की कल्पनायें किया ही करता है, परन्तु दुःख प्रसंग के आने पर भी उस से मुक्त होने की कल्पना करके आनन्द के बडे बडे स्वप्न-जाल रच डालता है। कहने का भाव यह है कि सुख व दुःख का कैसा ही प्रसंग क्यों न हो, मनुष्य आमद् स्वप्न

तो आनन्द के ही लेता है । रात्रिस्वप्न में मनुष्य स्वप्न के बहुत ही अधिक अधीन होता है, इसलिये भी वह मनुष्य स्वप्न से अपना पिंड नहीं छुडा सकता ।

इसी भावको दर्शानेके लिये मन्त्रमें स्वप्न को "धीरः" ढीठ कहा है । अर्थात् बार बार हटाये जाने पर भी वह हिम्मत नहीं हारता । आगे कहा कि "**एकाकिना सरथं यासि**" अर्थात् 'जीवात्मावाले रथ पर एकाकी होकर चलता है ।' हमारे शरीर में स्वप्नावस्था में स्वप्नकी वही स्थिति होती है जो कि जाग्रतावस्था में जीवात्मा की होती है । जाग्रतावस्था में इस शरीररूपी रथ पर जीवात्मा स्वामी बनकर विराजमान होता है, तो स्वप्नावस्था में स्वप्न इसका स्वामी बना होता है । आगे स्वप्न को "**विद्वान्**" कहा गया है । अर्थात् वह सब कुछ जानता है । बुद्धि, तर्क व समालोचना आदि का स्वप्न के ऊपर कोई प्रभाव नहीं । स्वप्नसमय स्वप्नगत बातें सब सत्य होती हैं । आगे कहा गया है कि "**असुरस्य योनौ स्वप्नं मिमानः**" आसुरी भावों के उत्पत्तिस्थान मनमें वह स्वप्न का निर्माण करता है ।

अगला मन्त्र इस प्रकार है ।–

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि । ततः स्वप्नेदमध्याबभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः । [अ. १९।५६।२]

अर्थात् 'हे स्वप्न ! [अग्रे] पहले कभी [बन्धः] सब को अपने में बांधनेवाले अथवा बन्धन के कारणभूत [विश्वचयः] विश्व का सञ्चय करनेवाले मनने [रात्र्याः पुरा] रात्रि से पहले अथवा [जनितोः पुरा] हमारे इस जन्म से पहले [एके अह्नि] किसी दिन तुझ को [अपश्यत्] देखा था (घटना रूप में अनुभव किया था) । हे हे स्वप्न ! [भिषग्भ्यः] भिषगों से [रूपमपगूहमानः] अपने रूप को छिपाते हुए तूने [ततः] उस यमलोक से [इदमध्याबभूविथ] इस शरीर व मन का अधिष्ठातृत्व ले लिया है ।'

इस मन्त्र में मन को 'बन्धः' और 'विश्वचयाः' कहा गया है । मन को 'बन्ध' नाम से याद करने का भाव यह है कि, जिस विचार या इच्छा को मन प्रबल रूप से बांधता है, वही स्वप्न में प्रकट होता है । दूसरा इस का भाव यह है कि, जन्म-मरण के बन्धन में मन ही कारण होता है । जैसा कहा भी है, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' अर्थात्– बन्ध और मोक्ष में मनुष्य का मन ही कारण होता है । मन का अगला विशेषण 'विश्वचयाः' है अर्थात् मन विश्व का सञ्चय करता है । इस ब्रह्माण्ड में जिस पदार्थ आदि को वह देखता है, उस का सञ्चय कर लेता है । इसलिये मन को हम विश्वकोष कह सकते हैं । इस विश्वकोष में से समय समय पर परिस्थिति के अनुसार अवसर पाकर पुरातन जन्मों की या इस जन्म की घटनाएँ स्वप्न में प्रकट होती रहतीं हैं । इन दोनों विशेषणों का एक सामूहिक अर्थ यह भी हो सकता है कि, मन विश्व को सञ्चय करके अपने अन्दर बांध लेता है । इस से यह ध्वनि निकलती है कि, जो बात स्मृति-पटलपर नहीं रहती, वह विनष्ट हो गई हो– यह बात नहीं है । वह हमारे अन्दर रहती अवश्य है, परन्तु मन के किसी गुह्य स्तरपर संस्कार-रूप में रहती है ।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणकर्ता स्वप्न का कारण यह मानते हैं कि, हमारी कई इच्छाएँ पूर्ण न होने की अवस्था में अव्यक्त-मानस के स्तर में [Subconscious self] जा विराजती हैं । और वहां से फिर वे स्वप्नमें अवसर पाकर प्रकट होती हैं । यह [Subconscious self] चेतना का एक रूप है । एक प्रकार से यह संस्कारों व अपूर्ण इच्छाओं का कोष है । यह कोष इन संस्कारों व इच्छाओं को अपने अन्दर बांधे रखता है । इसलिये मन्त्र में इस चेतना को 'बन्धः' बांधनेवाली कहा है । इस चेतना के अलौकिक गुण को दिखाने के लिये इसे 'विश्वचयाः' कहा है । अर्थात् इस में विश्व का सञ्चय है । वैदिक दृष्टि से यह एक मन का गुण है जो कि, शिव संकल्पवाले मन्त्रों की व्याख्या करते हुए हम दर्शा चुके हैं ।

आगे मन्त्रार्थ से यह भाव टपकता है कि, वे दुष्ट इच्छाएँ स्वप्न में प्रकट नहीं होती जिनका कि मानसिक रोगों के चिकित्सकने इलाज कर दिया है । जो दुष्ट इच्छाएँ वैद्य से न पकडी जा सकीं वे ही स्वप्न में प्रकट होती हैं । दूसरे इस मन्त्र से वेद यह बताता है कि, राष्ट्र की तरफ से मानसिक चिकित्सालय [Mental Hospitals] होने चाहियें जो कि मनुष्यों के बुरे विचारों, दुष्ट इच्छाओं तथा

दुःस्वप्न्यादियों को दूर करते हों। मन्त्र में निर्दिष्ट भिषग् अथर्ववेद के १६ वें काण्डके ७८ सूक्तों में दर्शाये गये हैं।

अगले मन्त्र में अच्छे स्वप्न का वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है-

बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन्। तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः॥ [अथर्व १९।५६।३]

"[बृहद्गावा] महान् गतिवाला यह स्वप्न [महिमानमिच्छन्] अपनी महिमा को चाहता हुआ [असुरेभ्योऽधि] असुरों वा आसुरी भावोंके अधिष्ठातृत्वको छोडकर [देवान् उपावर्तत] देवों व दिव्य भावों को प्राप्त हुवा, [तस्मै स्वप्नाय] ऐसे उस स्वप्न के लिये [स्वरानशानाः] सुख व दिव्य प्रकाश को प्राप्त करते हुए [त्रयस्त्रिंशासः] तैंतीस देवताओंने [आधिपत्यं दधुः] अपना अधिपति इसे बनाया अथवा आधिपत्य उसे सौंपा।"

इस मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या पहले भी की जा चुकी है। यह मन्त्र अच्छे स्वप्न का वर्णन कर रहा है। इस मन्त्रमें स्वप्नको महान् गतिवाला तथा महिमा चाहनेवाला बताया गया है। महिमा अर्थात् महत्त्वाकांक्षा मनुष्य में महान् गति को पैदा करती है। महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में मनुष्य कभी भी अकर्मण्य नहीं रह सकता। और मनुष्य में दिव्यता के पदार्पण से ही महत्त्वाकांक्षा पैदा होती है। आगे मन्त्रार्थ में कहा कि, ३३ देवताओंने अपना आधिपत्य स्वप्न को सौंप दिया। ये ३३ देवता शरीरान्तर्गत [१० इंद्रियां + १० प्राण + ४ अन्तःकरण + ९ गोलक] इंद्रियां आदि शक्तियां हैं।

ये इंद्रियादि देवता सामान्य मनुष्य पर अपना आधिपत्य रखती हैं। इनकी इच्छापूर्ति के लिये मनुष्य बुरे बुरे स्वप्न लेता है। परन्तु जब मनुष्य में दिव्यता पैदा होती है, और दुस्वप्नों का स्थान भद्र स्वप्न ले लेते हैं, तब इन्द्रियादि मानवीय शक्तियां दिव्य विचारों के पीछे पीछे चलती हैं, असुरों को छोडकर देवों का आधिपत्य स्वीकार करती हैं। और दिव्य विचारों के पीछे चलकर वे मानवीय ३३ शक्तियां स्वर् अर्थात् दिव्य प्रकाश, दिव्य आनन्द का उपभोग करती हैं।

नैतां विदुः पितरो नोत देवाः येषां जल्पिश्चरति अन्तरेदम्। त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः। [अथर्व. १९।५६।४]

"[इदं अन्तः] इस शरीर के अन्दर (स्वप्नसमय में) [येषां] जिनका [जल्पिः] परस्पर वार्तालाप [चरति] हो रहा होता है, [एताम्] उस वार्तालाप को [पितरः उत देवाः न विदुः] हमारे शरीरान्तर्गत पितर और देव नहीं जान रहे होते। [वरुणेन अनुशिष्टाः] वरुणसे आज्ञा दिए गये [नरः आदित्यासः] नेता आदित्य इस [स्वप्नं] स्वप्न को [त्रिते आप्त्ये अदधुः] त्रित आप्त्य में आधान कराते हैं।"

इस मन्त्र का भाव निम्न प्रकार प्रतीत होता है-

स्वप्नके समय हमारे अन्दर जो एक वार्तालाप चल रहा होता है, नई नई स्कीमें बन रही होती हैं, इन वार्तालापों को करनेवाले, नई नई स्कीमें बनानेवाले कौन हैं? इनको हमारे शरीर में विद्यमान देव और पितर नहीं जान रहे होते। शरीर के देव और पितर कौन हैं? यह एक बहुत गम्भीर विषय है। शरीर में इनका परिगणन, नाम, स्थान व कार्यनिर्देश आदि तो फिर कभी आप के सामने रक्खा जायेगा। अब संक्षेप में केवल इतना ही कहना है कि शरीर को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो देव, दूसरे पितर। दिव्यता, प्रकाश, ज्ञानोपार्जन, नेतृत्व आदि कार्य का जिनके साथ सम्बन्ध है, वे देव कहलाते हैं। और शरीर को स्थिर रखना, पालन, पोषण, करना, उत्पत्ति, अपचय उपचय आदि का जिनके साथ सम्बन्ध है, वे पितर कहला सकते हैं। इस आधार पर शरीर में बुद्धि व इन्द्रियादि देव कहे जा सकते हैं। परन्तु शरीर में पितर कौनसे हैं? इस सम्बन्ध में अभी हम अपनी विचारशैली ही आप के सामने रख सकते हैं।

सामान्य लौकिक जगत् में पितृलोक यमलोकके अधीन माना जाता है। शत. १३।४।३।६ में भी कहा है कि- "**यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशः**" अर्थात् विवस्वान् यम राजा है और पितर उसकी प्रजाएँ हैं।

(क्रमशः)

वेदका रहस्य।

[अध्याय १५]

अंगिरस् ऋषि।

[लेखक- श्रीअरविंद; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

' अंगिरस् ' नाम वेद में एकवचन में या बहुवचन में- अधिकतर बहुवचन में- बहुत जगह आया है। पैतृक नाम या गोत्रसूचक नाम के तौरपर ' आंगिरस ' यह शब्द भी कई जगह बृहस्पति देवता के विशेषण के तौरपर वेद में आया है। पीछे से अंगिरस् (भृगु तथा अन्य मन्त्र-द्रष्टा ऋषिओं की तरह) उन वंशप्रवर्तक ऋषियोंमें से गिना जाने लगा था, जिनके नाम से वंश तथा गोत्र चले और पुकारे जाते थे, जैसे ' अंगिरा: ' से आंगिरस, ' भृगु ' से भार्गव। वेद में भी ऐसे ऋषियों के कुल हैं, जैसे अत्रय:, भृगव:, कण्वा:। अत्रिओं के एक सूक्त में अग्नि (पवित्र आग) को खोज निकालनेवाले अंगिरस् ऋषि कहे गये हैं, एक दूसरे में भृगु ऋषि *। बहुधा सात आदिम अंगिरसों का वर्णन इस रूप में हुआ है कि, वे मनुष्य पुरखा हैं, ' पितरो मनुष्या:, ' जिन्होंने प्रकाश को खोज निकाला, सूर्य को चमकाया और सत्य के स्वर्लोक में चढे गये। दशम मण्डल के कुछ सूक्तों में अंगिरसों को कव्यभुक् पितरों के तौर पर यम (एक देवता जो कि पीछे के सूक्तों में ही प्रधानता में आया है) के साथ संबन्धित किया गया है, वहां ये अंगिरस् गण देवताओं के साथ बर्हि: पर बैठते हैं और यज्ञ में अपना भाग ग्रहण करते हैं।

यदि अंगिरस् ऋषियों के विषय में यही सब कुछ बस होता तो इन्होंने गौओं के खोजनेमें जो भाग लिया है, उस की व्याख्या करना बडा आसान था; बल्कि उस की व्याख्यामें कुछ खास कहने की जरूरत ही न थी, सब तो इतना ही है कि, ये पूर्वपुरुष हैं, वैदिक धर्म के संस्थापक हैं, जिन्हें इन के वंशजोंने आंशिक रूपसे देवत्व प्रदान कर दिया है और जो सतत रूप से देवों के साथ संबंधित हैं, उषा तथा सूर्य के पुन:प्राप्ति के कार्य में, यह सूर्य और उषा की पुन:प्राप्ति चाहे, तो भौतिक रूप में हो और एवं उत्तरी ध्रुव की लंबी रात्रियों में से इन की पुन:प्राप्ति हो या प्रकाश और सत्य को जीत लेने के रूप में। परन्तु इतना ही सब कुछ नहीं है, वैदिक गाथा इस के और गंभीर पहलुओं का वर्णन करती है।

पहिले तो यह कि अंगिरस् केवल देवत्वप्राप्त मानुष पितर ही नहीं हैं किन्तु वे हमारे सामने इस रूप में भी दिखाये गये हैं कि, वे द्युलोकके द्रष्टा हैं (दिव्य ऋषि हैं), देवताओंके पुत्र हैं, वे द्यौके पुत्र हैं और असुर के, बला-धिपति के वीर हैं या शक्तियां हैं। ' दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा: ' यह एक ऐसा वर्णन है जो कि, अंगिरसोंके संख्या में सात होने के कारण तत्सदृश ईरानियन गाथा में के अहुरमज्दा (Ahura Mazda) के सात देवदूतों का प्रबलता से, यद्यपि शायद केवल आकस्मिक रूप से, स्मरण करा देता है और फिर ऐसे संदर्भ हैं, जिन में अंगिरस् बिलकुल प्रतीकात्मक हो गये दीखते हैं, वे मूल-अंगिरस् अग्नि के पुत्र और शक्तियां हैं, वे प्रतीकभूत प्रकाश और ज्वाला की शक्तियां हैं और वे उस सात मुखवाले, अपनी नौ और अपनी दस प्रकाश की किरणों-वाले एक अंगिरस् में, नवग्वे अंगिरे दशग्वे सप्तास्ये, एकीभूत भी हो जाते हैं जिस पर और जिस द्वारा उषा अपने संपूर्ण आनन्द और वैभव के साथ खिल उठती है। ये तीनों स्वरूपवर्णन एक ही और उन्हीं अंगिरसों के प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन में उन के विशेष गुण और उन के कार्य अन्य फर्क के होते हुए भी अभिन्न ही रहते हैं।

अंगिरस् ऋषि देव भी हैं और मानुष भी हैं, उन के इस प्रकार दुहरे स्वरूपवाले होने की व्याख्या तो बिलकुल

---

* बहुत सम्भव है, अंगिरस् ऋषि अग्निकी ज्वलत् (अंगार) शक्तियां हैं और भृगुगण सूर्य की सौर शक्तियां हैं।

विपरीत तरीकों से की जा सकती है। वे मूलतः मनुष्य ऋषि रहे हैं और अपने वंशजोंद्वारा देवत्व प्राप्त हुवे हों और इस देवत्वापादन में उन्हें दिव्य कुल-परंपरा तथा दिव्य व्यापार दे दिये गये हों, या ये मूलतः अर्धदेव हों, प्रकाश और ज्वाला की शक्तियां हों, जिनका कि मनुष्य-जाति के पितरों तथा उसके ज्ञान के आविष्कारकोंके रूपमें मानुषीकरण हो गया हो। ये दोनों ही प्रक्रियायें प्राथमिक गाथाविज्ञान में स्वीकार की जाने योग्य हैं। उदाहरणार्थ ग्रीक कथानक के कैस्टर (Castor) और पोलीडूसस (Polydeuces) और उन की बहिन (Helen) मानुष प्राणी थे, यद्यपि ये जुस (Zeus) के पुत्र थे और मृत्युके बाद ही देव हुवे। परन्तु बहुत सम्भावना यह है कि ये तीनों मूलतः ही देव थे– कैस्टर और पोलीडूसस, युगल, घोडेपर चढनेवाले, समुद्र में नाविकों की रक्षा करनेवाले लगभग निश्चयसे कहा जा सकता है कि, वैदिक अश्विनौ हैं जो कि घुडसवार हैं जैसा कि, 'अश्विन्' यह नाम ही बताता है, अद्भुत रथ पर चढनेवाले हैं, युगल भी हैं, समुद्र में 'भुज्यु' की रक्षा करनेवाले हैं, अपार जलराशिपर पार तरानेवाले, उषा के भाई हैं और Helen उन की बहिन उषा है या वह सरमा, देवशुनी ही है जो कि दक्षिणा की तरह उषाकी शक्ति, लगभग उस की मूर्ति [प्रतिमा] है। पर इन में से कुछ भी मानें इस के आगे एक और विकासक्रम हुवा है, जिसके द्वारा ये देव या अर्ध-देव आध्यात्मिक व्यापारों से युक्त हो गये हैं, शायद उसी प्रक्रिया द्वारा जिस से ग्रीक-धर्म में Athene, उषा, का ज्ञान की देवी के रूप में परिवर्तन तथा Apollo, सूर्य, का दिव्य गायक और द्रष्टा के, भविष्यवाणी और कविता के प्रेरक-देव के रूपमें परिवर्तन हो गया।

वेद में यह संभव है कि, एक और ही प्रवृत्ति काम कर रही हो-- अर्थात् उन प्राचीन रहस्यवादिओं के मनों में प्रधानतया विद्यमान, सतत और सर्वत्र पायी जानेवाली प्रतीकवाद की प्रवृत्ति या आदत। हरेक बात, उनके अपने नाम, राजाओं और याजकों के नाम, उनके जीवन की साधारण से साधारण परिस्थितियां ये सब प्रतीकों के रूप में ले आयी गयी थीं और वे प्रतीक उन के असली गुह्य अभिप्रायों के लिये आवरण का काम देते थे। जैसे कि वे 'गौ' शब्द की द्व्यर्थता का उपयोग करते थे, जिस का कि अर्थ 'किरण' और 'गाय' ये दोनों होते थे, जिस से कि गाय (उनके पशुपाल-जीवनसम्बन्धी संपत्ति के मुख्य रूप) की मूर्त प्रतिमा उस के छिपे हुए, अभिप्राय आन्तरिक प्रकाश (जो कि जिसकी वे अपने देवों से प्रार्थना करते थे, उस उन की आध्यात्मिक संपत्ति का मुख्य तत्त्व था) के लिये आवरण बन सके, वैसे ही वे अपने नामोंका भी उपयोग करते थे, गोतम 'प्रकाश से अधिक से अधिक भरा हुआ,' गविष्ठिर 'प्रकाश में स्थिर,' एवं ऊपर से देखने में जो निजी दावा या इच्छासी प्रतीत होती है, उस के नीचे वे अपने विचार में रहनेवाले विस्तृत और व्यापक अभिप्राय को छिपाये होते थे। इसी प्रकार वे बाह्य तथा आन्तर अनुभूतियों का भी, वे चाहे अपनी हों या दूसरे ऋषियों की, उपयोग करते थे। यज्ञस्तम्भ के साथ बांधे गये शुनःशेप की प्राचीन कथा में यदि कुछ सत्य है, तो यह बिलकुल निश्चित है, जैसा कि हम अभी देखेंगे कि ऋग्वेद में यह घटना या गाथा एक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त की गई है। शुनःशेप है मानवीय आत्मा जो कि पाप के त्रिविध बन्धन से बद्ध है और अग्नि, सूर्य तथा वरुण की दिव्य शक्तिओं द्वारा वह इस से उन्मुक्त होता है।

इसी प्रकार कुत्स, कण्व, उशना काव्य जैसे ऋषि भी किन्हीं आध्यात्मिक अनुभूतिओं तथा विजयों के प्रतीक या आदर्श बने हैं और उस स्थिति में इन्होंने देवताओंके साथ स्थान प्राप्त किया है। तो फिर इस में कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि, सात अंगिरस् ऋषि भी इस रहस्यमय प्रतीकवाद में, अपने परंपरागत या ऐतिहासिक मानुष स्वरूप का सर्वथा बिना त्याग किये ही, दिव्य शक्तियों और आध्यात्मिक जीवनके जीवन्त बल बन गये हों। तो भी हम यहां इन अटकलों और अनुमानों को एक तरफ छोड देंगे और इस की जगह इस परीक्षा में प्रवृत्त होंगे कि अंगिरसों के व्यक्तित्व के उपर्युक्त तीन तत्वों या पहलुओं का गौओं के तथा सूर्य और उषा के अन्धकार से फिर निकल आने के अलंकार में क्या क्या भाग रहा है।

सब से पहिले हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि

वेद में अंगिरस् शब्द विशेषण के तौरपर प्रयुक्त हुआ है, अधिकतर उषा और गौओं के रूपक के प्रकरण में। दूसरे यह कि अग्नि के नाम के तौरपर यह आया है, इन्द्र को अंगिरस् हो गया कहा गया है और बृहस्पतिको अंगिरस् या आंगिरस पुकारा गया है, जो कि स्पष्ट ही केवल आलंकार के तौरपर या गाथात्मक तौरपर नहीं कहा गया है, किन्तु विशेष अर्थ सूचित करने के लिये और इस शब्द के साथ जो आध्यात्मिक या दूसरे भाव जुडे हुए हैं, उन को लक्षित करने के लिये ऐसा कहा गया है। यहां तक कि अश्विन् देव भी सामूहिक रूप से अंगिरस् करके संबोधित किये गये हैं।

इसलिये यह स्पष्ट है कि, अंगिरस् शब्द वेद में केवल ऋषियों के एक कुल के नाम के तौरपर नहीं प्रयुक्त हुआ है किन्तु इस शब्द के अन्दर निहित एक विशिष्ट अर्थ को लेकर हुआ है। यह भी बहुत संभव है कि, यह शब्द जब एक संज्ञा, नाम के तौरपर प्रयुक्त हुआ है तब भी इसके अन्तर्निहित भाव को स्पष्ट गृहीत करते हुए हुआ है, बहुत संभव तो यहां तक है कि, वेद में आनेवाले नाम ही सामान्यतया, यदि हमेशा नहीं, अपने अर्थपर बलप्रदानपूर्वक प्रयुक्त किये गये हैं, विशेषतया देवों, ऋषियों और राजाओंके नाम। वेदमें इन्द्र शब्द सामान्यतया एक नाम के तौरपर प्रयुक्त हुआ है, तो भी हम वेद की शैली की ऐसी झांकियां पाते हैं जैसे कि उषा का वर्णन करते हुए उसे 'इन्द्रतमा, अंगिरस्तमा' कहा गया है। 'सब से अधिक इन्द्र,' 'सब से अधिक अंगिरस्,' और पणियों को 'अनिन्द्राः' अर्थात् इन्द्ररहित वर्णित किया गया है। ये स्पष्ट ही ऐसे शब्दप्रयोग हैं जो कि, इन्द्र या अंगिरस् से निरूपित होनेवाले व्यापारों, शक्तियों या गुणों से युक्त होने या इन से रहित होनेके भाव को सूचित करने के अभिप्राय से किये गये हैं। तो हमें अब यह देखना है कि, वे अभिप्राय क्या हैं और अंगिरस् ऋषियों के गुणों या व्यापारों पर उन द्वारा क्या प्रकाश पडता है।

यह शब्द अग्नि का सजातीय है, क्योंकि वह जिस धातु अगि (अंग्) से निकला है, वह अग्नि की धातु, अग् का केवल सानुनासिक रूप है। इन धातुओं का आन्तरिक अर्थ प्रतीत होता है प्रमुख या प्रबल अवस्था, भाव, गति, क्रिया, प्रकाश *। और इन में यह अन्तिम प्रदीप्त या जलते हुए प्रकाश का अर्थ है जिससे 'अग्नि,' आग; 'अंगार,' दहकता कोयला (अंगारा) और 'अंगिरस्,' जिसका कि अर्थ होना चाहिये ज्वालामय या दीप्त, बने हैं। वेदमें और ब्राह्मण-ग्रंथों की परंपरा में भी अंगिरस् मूलतः अग्निसे निकट संबद्ध माने गये हैं। ब्राह्मणों में यह कहा गया है कि अग्नि आग है, अंगिरस् अंगारे हैं, पर स्वयं वेद का निर्देश ऐसा प्रतीत होता है कि वे (अंगिरस्) अग्नि की ज्वालायें हैं या ज्योतियां हैं। ऋ० १०-६२ में अंगिरस् ऋषियों की एक ऋचा में उन के बारेमें कहा गया है कि, वे अग्नि के पुत्र हैं और अग्नि से उत्पन्न हुए हैं, ये अग्नि के इर्दगिर्द और विविध रूप वाले होकर सारे द्युलोक के इर्दगिर्द उत्पन्न हुए हैं। × और फिर इस से अगली पंक्ति में इन के विषय में सामुदायिक रूप से एकवचन में बोलते हुए कहा है- 'नवग्वो नु दशग्वो अंगिरस्तमः सचा देवेषु मंहते' अर्थात् नौ किरणोंवाला, दस किरणोंवाला सब से अधिक अंगिरस्

---

* प्रमुख या प्रबल अवस्था के लिये शब्द है 'अग्र', जिसका अर्थ होता है अगला या मुख्य और ग्रीक में 'अगन' जिस का अर्थ है 'अधिकता से'। प्रमुख भाव के लिये ग्रीक 'अगपे' है जिस का अर्थ है प्रेम और शायद संस्कृत 'अंगना' अर्थात् स्त्री। इसी तरह प्रमुख गति तथा क्रिया के लिये भी इसी प्रकार के कई संस्कृत, ग्रीक तथा लेटिन के शब्द हैं।

× ते अंगिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥ ५ ॥
ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि
नवग्वो नु दशग्वो अंगिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥ ६ ॥
इन्द्रेण युजा निःसृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ॥ ७ ॥.

*.

(यह अंगिरस्-कुल) देवों के साथ या देवों में समृद्धिको प्राप्त होता है।

इन्द्र की सहायता से ये अंगिरस् गौओं और घोड़ों के बाड़े को खोल देते हैं, ये यज्ञ करनेवालों को रहस्यमय आठ कानोंवाला गो-समूह प्रदान करते हैं और उस के द्वारा देवताओं में ' श्रवस् ' अर्थात् दिव्य श्रवण या सत्य की अन्तःप्रेरणा को उत्पन्न करते हैं। तो यह काफी स्पष्ट है कि, अंगिरस् ऋषि वहां दिव्य अग्नि की प्रसरणशील ज्योतियां हैं जो कि द्युलोक में उत्पन्न होती हैं, इसलिये ये दिव्य ज्वाला की ज्योतियां हैं, न कि किसी भौतिक आग की। ये प्रकाश की नौ किरणों से और दश किरणों से संनद्ध होते हैं, अंगिरस्तम बनते हैं अर्थात् अग्नि की, दिव्य ज्वाला की जाज्वल्यमान अर्चिओं से पूर्णतम होते हैं और इसलिये कारागारमें बन्द प्रकाश और बल को मुक्त करने में तथा अतिमानस (विज्ञानमय) ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

चाहे यह स्वीकार न किया जाय कि, प्रतीकपरक यही अर्थ ठीक है, पर यह तो स्वीकार करना होगा कि, यहां पर कोई प्रतीकात्मक अर्थ ही है। ये अंगिरस् कोई यज्ञ करनेवाले मनुष्य नहीं हैं, किन्तु द्युलोक में उत्पन्न हुए अग्नि के पुत्र हैं, यद्यपि इन का कार्य बिलकुल मनुष्य अंगिरसों का है जो कि पितर हैं, (पितरो मनुष्याः); ये विविध रूप लेकर उत्पन्न हुए हैं, (विरूपासः)। इस सब का यही अभिप्राय हो सकता है कि, ये अग्नि की शक्तिके विविध रूप हैं। प्रश्न होता है किस अग्नि के, क्या यज्ञशाला की ज्वाला के, सामान्य अग्नि-तत्व के या फिर उस दूसरी पवित्र ज्वालाके जिसका वर्णन किया गया है ' द्रष्टृ-संकल्प से युक्त होता ' या ' जो द्रष्टा का कार्य करता है, सत्य है, 'अन्तःप्रेरणाओं के विविध प्रकाश से समृद्ध है ' **(अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः)।**

यदि यह अग्नि-तत्व है तो अंगिरस् से सूचित होनेवाली जाज्वल्यमान चमक सूर्य की चमक होनी चाहिये अर्थात् अग्नि-तत्व की वह आग जो सूर्यकिरणोंके रूप में प्रसरित हो रही है और इन्द्र से, आकाश से संबद्ध होकर वह उषा को उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भौतिक व्याख्या नहीं हो सकती, जो अंगिरस् गाथा की परिस्थितियों तथा विवरणों से संगत हो। परन्तु यह भौतिक व्याख्या अंगिरस् ऋषियोंसम्बन्धी अन्य वर्णनोंका कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं दे सकती कि वे द्रष्टा हैं, वैदिक सूक्तों के गायक हैं, कि वे जैसे सूर्य की और उषा की वैसे बृहस्पति की भी शक्तियां हैं।

वेद का एक और संदर्भ है, (६-६-३,४,५) * जिस में इन अंगिरस् ऋषियों का अग्नि की ज्वालामय अर्चिओं के साथ तादात्म्य बिलकुल स्पष्टतया और अभ्रान्त रूप से प्रकट हो जाता है। ' (शुचे अग्ने) हे पवित्र और चमकीले अग्नि ! (ते) तेरे (शुचयः भामासः) पवित्र और चमकीले प्रकाश (वातजूतासः) वायु से प्रेरित हुए हुए (विष्वक्) चारों तरफ (विचरन्ति) दूर दूर तक पहुंचते हैं; (तुविम्रक्षासः) प्रबलतासे अभिभूत करनेवाले (दिव्या नवग्वाः) दिव्य × नौ किरणोंवाले (वना ❀ वनन्ति) वनों का उपयोग करते हैं (धृषता रुजन्तः) उन्हें बलपूर्वक तोड़ते फोड़ते हुए। ('वना वनन्ति' शब्द बड़े अर्थपूर्ण रूप से इस ढके हुए अभिप्राय को दे रहे हैं कि, ' उपभोग-योग्य वस्तुओं का उपभोग करते हैं।) ।

(शुचिष्मः) ओ पवित्र प्रकाशवाले ! (ये ते शुक्राः शुचयः) जो तेरे चमकीले और पवित्र प्रकाश सब (क्षां)

---

* वि ते विष्वग्वातजूतासो अग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति ।
तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्तः ॥ ३ ॥
ये ते शुक्रासः शुचयः शुचिष्मः क्षां वपन्ति विषितासो अश्वाः ।
अध भ्रमस्त उर्विया वि भाति यातयमानो अधि सानु पृश्नेः ॥ ४ ॥
अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना ।

× नवग्वा का दिव्य विशेषण ध्यान देने योग्य है।

❀ ' वना ' का अर्थ सायणने ' वनीय अग्नि के लिये काष्ठ ' ऐसा किया है।

पृथ्वी को (वपन्ति +) आक्रान्त या अभिभूत करते हैं, (विषितासः अश्वाः) वे तेरे सब दिशाओं में दौडनेवाले घोडे हैं। (अध) तब (ते भ्रमः) तेरा भ्रमण (शर्विया विभाति) विस्तृत रूप में चमकता है, (पृश्नेः) चित्र-विचित्र रंगवाली [मरुतोंकी माता, पृश्नि, गौ] की (सानोः अधि) उच्चतर भूमि की तरफ (यातयमानः) यात्रा का मार्ग दिखलाता हुआ। (अध) तब (जिह्वा) तेरी जीभ (पपतीति) लपलपाती है, (गोषुयुधो वृष्णः सृजाना अशनिः न) जैसे कि गौओं के लिये युद्ध करनेवाले वृषासे छोडा हुआ वज्र।' यहां अंगिरस् ऋषियों की ज्वालाओं (भामासः आदि) से जो स्पष्ट अभिन्नता है, उसे सायण 'नवग्वाः' का अर्थ 'नवजात किरणें' कर के टालना चाहता है। परन्तु यह बिलकुल स्पष्ट है कि, यहां के 'दिव्याः नवग्वाः' तथा १०–६२ में वर्णित 'अग्नि के पुत्र, द्युलोक में उत्पन्न होनेवाले, नवग्व' एक हैं, इनका भिन्न होना संभवित नहीं है।

यह अभिन्नता और भी पुष्ट हो जाती है, यदि किसी पुष्टि की जरूरत है, उपर्युक्त संदर्भ में आये इस कथन से कि नवग्वों की क्रिया द्वारा होनेवाले अग्नि के इस भ्रमण में उस की जिह्वा, इन्द्र के (गौओं के लिये लडनेवाले और वृषा इन्द्र के) अपने हाथों से छूटे हुए वज्र का रूप धारण करती है और यह तेजी से लपलपाती हुई आगे बढती है, निःसन्देह द्युलोक की पहाडी में अन्धकार की शक्तियों पर आक्रमण करने के लिये, क्योंकि अग्नि और नवग्वों का प्रयाण (भ्रमण) यहां इस रूप में वर्णित किया गया है कि, यह पृथ्वी पर घूम चुकने के उपरान्त पहाडी पर (सानु पृश्नेः) चढना है।

यह स्पष्ट ही ज्वाला और प्रकाश का प्रतीकात्मक वर्णन है– दिव्य ज्वाला पृथ्वी को दग्ध करती है और फिर वह द्युलोक की विद्युत् तथा सौर शक्तियों की दीप्ति बनती है; क्योंकि वेदमें अग्नि सूर्य की ज्योति तथा विद्युत् भी है जहां यह जल में उपलब्ध होनेवाली तथा पृथ्वीपर चमकनेवाली ज्वाला है। अंगिरस् ऋषि भी, अग्नि की शक्तियां होने के कारण, अग्नि के इस अनेकविध स्वरूप व व्यापार को ग्रहण करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रदीप्त की गई दिव्य ज्वाला इन्द्र को विद्युत् की सामग्री भी प्रदान करती है, विद्युत् की, वज्र की, 'स्वर्य अश्मा' की जिस के द्वारा वह अन्धकार की शक्तियोंका विनाश करता है और गौओं को, सौर ज्योतियों को, जीत लेता है।

अग्नि, अंगिरसोंका पिता, न केवल इन दिव्य ज्वालाओं का मूल और उद्गमस्थान है किन्तु वह स्वयं भी वेद में पहिला अंगिरस् (प्रथमो अंगिराः) अर्थात् परम और आदिम अंगिरा वर्णित किया गया है। इस वर्णनद्वारा वैदिक कवि हमें क्या अभिप्राय जताना चाहते हैं? यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि हम उनमें से कुछ वाक्यों पर ज़रा दृष्टिपात करें जिन में कि इस प्रकाशमान और ज्वालायुक्त देवता को 'अंगिराः' विशेषण दिया गया है। पहिले तो यह कि, यह दो वार अग्नि के एक अन्य नियत विशेषण 'सहसः सूनुः ऊर्जो नपात्' (बल के पुत्र या शक्ति के पुत्र) के साथ संबद्ध होकर आया है।

जैसे ८–६०–२ में संबोधित किया गया है 'हे अंगिरः बल के पुत्र' (सहसः सूनो अंगिरः) ॐ और ८·८४·४ में 'हे अग्ने। अंगिर! शक्ति के पुत्र (अग्ने अंगिर ऊर्जो नपात्।) + और ५-११-६ × में यह कहा गया है 'तुझे, हे अग्ने! अंगिरसोंने गुप्त स्थानों में स्थापित को (गुहा हितं) प्राप्त कर लिया, जंगल जंगलमें (वने वने, अथवा यदि हम उस छिपे हुए अर्थ के संकेत को स्वीकार करें जिसे कि, हम 'वना वनन्ति' इस शब्दावलि में पहिले देख चुके हैं तो 'प्रत्येक उपभोग्य पदार्थमें') छिपे हुए हुए को। सो तू मथा जाकर (मथ्यमान) एक महान्

\+ 'क्षां वपन्ति' का अर्थ सायणने 'पृथ्वी के बालों को मूण्डते हैं' ऐसा किया है।

ॐ अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अंगिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम्॥ (ऋ० ८·६०·२)

\+ कया ते अग्ने अंगिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्। वराय देव मन्यवे। (ऋ० ८·८४·४)

× त्वामग्ने अंगिरसो गुहा हितं अन्वविन्दन् शिश्रियाणं वने वने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमंगिरः॥ (ऋ० ५·११·६)

शक्ति होकर उत्पन्न होता है, तुझे वे बल का पुत्र कहते हैं, हे अंगिरः ! ''

तो इस में सन्देह का अवकाश नहीं कि यह बल का विचार अंगिरस् शब्द की वैदिक धारणा में एक आवश्यक तत्त्व है और जैसा कि हम देख चुके हैं, यह इस शब्द के अर्थ का एक भाग ही है। अग्नि अंगिरस् जिन धातुओं से बने हैं, इन ' अग् ' ' अगि (अंग्) ' में बल का भाव निहित है; अवस्था में, क्रिया में, गति में, प्रकाश में अनुभव में प्रबलता इन धातुओं का अन्तर्निहित गुण है। बल, पर साथ ही इन शब्दों में प्रकाश भी है। अग्नि, पवित्र ज्वाला, प्रकाश की ज्वलन्त शक्ति है और अंगिरस् भी प्रकाश के ज्वलन्त बल हैं।

परन्तु किस प्रकाश के, भौतिक या आलंकारिक ? हमें यह नहीं कल्पना कर लेनी चाहिये कि, वैदिक कवि इतनी अपक्व तथा जंगली बुद्धिवाले थे कि, वे स्पष्टता से तथा सभी भाषाओंमें पाये जानेवाले सामान्य ऐसे आलंकारिक वर्णन कर सकने में भी असमर्थ थे, जिस में कि भौतिक प्रकाश आलंकारिक रूप से मानसिक तथा आत्मिक प्रकाश का, ज्ञान का, आन्तरिक-प्रकाश-युक्तता की वर्णन करने को प्रयुक्त किया जाता है। वेद बिलकुल साफ कहता है, ' द्युमतो विप्राः ' अर्थात् प्रकाशयुक्त ज्ञानी और ' सूरि ' शब्द (जिस का कि अर्थ होता है ऋषि) व्युत्पत्तिशास्त्रके अनुसार ' सूर्य ' से सम्बद्ध है और इसलिये मूलतः इस का अर्थ अवश्य ' प्रकाशयुक्त ' ऐसा होना चाहिये। १-३१-१ * में इस ज्वाला के देव के विषय में कहा गया है।

' हे अग्ने ! तू प्रथम अंगिरस् हुआ है, ऋषि, देवों का देव, शुभ सखा है। तेरी क्रिया के नियम में (व्रत में) मरुत् अपने चमकीले भालों के साथ उत्पन्न होते हैं जो क्रान्तदर्शी हैं और ज्ञानके साथ कर्म करनेवाले हैं '। तो स्पष्ट है कि, ' अग्नि अंगिराः ' में दो भाव विद्यमान हैं, ज्ञान और क्रिया; प्रकाशयुक्त अग्नि और प्रकाशयुक्त मरुत् अपने प्रकाशद्वारा ज्ञान के द्रष्टा, ऋषि, ' कवि ' हुवे हैं। और ज्ञान के प्रकाशद्वारा शक्तिशाली मरुत् अपना कार्य करते हैं क्योंकि वे अग्नि के ' व्रत ' में- उसकी क्रिया के नियम में- उत्पन्न हुवे हैं या आविर्भूत हुवे हैं।

क्योंकि स्वयं अग्नि हमारे सम्मुख इस रूप में वर्णित किया गया है कि, वह द्रष्टृ-संकल्पवाला है, ' कविक्रतुः ' है, क्रिया का वह बल है जो कि अन्तःप्रेरित या अतिमानस ज्ञान के (श्रवस् के) अनुसार कार्य करता है, कारण यह वह (अन्तःप्रेरित या अतिमानस) ज्ञान ही है न कि बौद्धिक ज्ञान जो कि, कवि शब्द द्वारा अभिप्रेत होता है।

तो यह अग्नि अंगिरस् नामक महान् बल, ' सहो महत्, ' और क्या है सिवाय इसके कि, यह दिव्य चेतना का ज्वलन्त बल है, पूर्ण सामंजस्य में कार्य करनेवाले प्रकाश और शक्ति के अपने दोनों युगल गुणों के साथ-ठीक ऐसे ही जैसे कि मरुतों का वर्णन किया गया है कि, वे ' कवयो विद्मनापसः ' हैं, क्रान्तदर्शी हैं, ज्ञान के साथ कार्य करनेवाले ? इस परिणाम पर पहुंचने के लिये तो हम युक्तिसंगत हो चुके हैं कि, उषा दिव्य प्रभात है न कि केवल भौतिक सूर्योदय, कि उसकी गौएं या उषा तथा सूर्य की किरणें उदय होती हुई दिव्य चेतना की किरणें व प्रकाश हैं और कि इस लिये सूर्य ज्ञान के अधिपति के रूप में प्रकाशप्रदाता है और कि ' स्वः ', द्यावापृथिवी के परे का सौर लोक, दिव्य सत्य और आनन्द का लोक है, एक शब्द में कहें तो यह कि वेदमें प्रकाश व ज्योति ज्ञान का, दिव्य सत्य के प्रकाशन का प्रतीक है। हम अब यह परिणाम निकालने के लिये भी युक्तिसंगत हो रहे हैं कि, ज्वाला जो कि प्रकाश का ही एक दूसरा रूप है- दिव्य चेतना के (अतिमानस सत्य) के बल के लिये वैदिक प्रतीक है।

एक दूसरी (६-११-३) ऋचा में आया है, ' वेपिष्ठो अंगिरसां यद्ध विप्रः ' अर्थात् ' सबसे अधिक सम्प्, अंगिरसों में जो विप्र (प्रकाशयुक्त) है। ' यह किसकी तरफ निर्देश है, यह स्पष्ट नहीं है। सायण ' वेपिष्ठो विप्रः ' इस विन्यासकी तरफ ध्यान नहीं देता, जिससे ' वेपिष्ठः ' का अर्थ एकदम स्पष्ट तौरसे स्वयमेव निश्चित हो जाता है कि,

---

* त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ (ऋ० १-३१-१)

'विप्रतम, सब से अधिक सन्त, सब से अधिक प्रकाशयुक्त'। सायण यह कल्पना करता है कि, यहां भारद्वाज, जो कि इस सूक्त का ऋषि है, स्वयं अपने आप की स्तुति करता हुआ अपने को देवों का 'सब से बडा स्तोता' कहता है। पर यह निर्देश शंकनीय है। यहां यह अग्नि है जो कि 'होता' है, पुरोहित है (देखो पहिले दूसरे मन्त्र में 'यजस्व होतः', 'त्वं होता'), अग्नि है जो कि देवों का यजन कर रहा है, अपने ही तनूभूत देवों का ('तन्वं तव स्वां' दूसरा मन्त्र), मरुतों, मित्र, वरुण, द्यौ और पृथिवी का यजन कर रहा है (पहिला मन्त्र)। क्योंकि इस ऋचा में कहा है—

'तुझ में ही (हि त्वे) बुद्धि (धिषणा) यद्यपि यह धन्या है, धन से पूर्ण है (धन्या चित्) तो भी देवों को चाहती है (देवान् प्रवष्टि), मंत्रगायक के लिये (दिव्य) जन्म चाहती है जिस से कि वह देवों का यजन कर सके (गृणते जन्म यजध्यै); * जब कि, विप्र, अंगिरसों में विप्रतम (सब से अधिक प्रकाशयुक्त) स्तोता (यद्ध विप्रः अंगिरसां वेपिष्ठः रेभः) यज्ञ में मधुर छन्द उच्चारण करता है (इष्टौ मधुच्छन्दः भनति)।' इससे लगेगा कि, अग्नि ही स्वयं विप्र है, अंगिरसों में वेपिष्ठ (विप्रतम) है। या यह दूसरी तरफ यह वर्णन बृहस्पति के लिये उपयुक्ततम लगेगा।

क्योंकि बृहस्पति भी एक आंगिरस है और वह है जो अंगिरस् बनता है। जैसा कि, हम देख चुके हैं, वह प्रकाशमान पशुओं के जीतने के कार्य में अंगिरस् ऋषियोंके साथ निकटतया संबद्ध है और वह संबद्ध है ब्रह्मणस्पति के तौरपर, ब्रह्मन् (पवित्र वाणी या अन्तःप्रेरित वाणी) के पति के तौरपर, क्योंकि उस के शब्द द्वारा (रवेण) बल टुकडे टुकडे हो गया और गौओंने इच्छा के साथ रंभाते हुए उस की पुकार का उत्तर दिया। अग्नि की शक्तियों के तौरपर ये अंगिरस् ऋषि उस की तरह ही कविक्रतु हैं, वे दिव्य प्रकाश से युक्त हैं और उस के द्वारा दिव्य शक्ति के साथ काम करते हैं; वे केवल ऋषि ही नहीं हैं, किंतु वैदिक युद्ध के वीर हैं 'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः (३-५३-७)' अर्थात् द्यौ के पुत्र हैं, बलाधिपति के वीर हैं, वे हैं (जैसा ६-७५-९ * में वर्णित है) 'पितर जो माधुर्य (आनन्द के जगत्) में बसते हैं, जो विस्तृत जीवन को स्थापित करते हैं, कठिन स्थानोंपर विचरते हैं, शक्तिवाले हैं, गम्भीर × हैं, चित्र सेनावाले हैं, इषुबलवाले हैं, अजेय हैं, अपनी सत्ता में ही वीर हैं, विशाल हैं, शत्रुसमूहों का अभिभव करनेवाले हैं,' पर साथ ही वे हैं (जैसा कि, अगली ऋचामें उनके विषयमें कहा गया है) 'ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः' अर्थात् वे दिव्य वाणी (ब्रह्म) वाले हैं और इस वाणी के साथ रहनेवाले अन्तःप्रेरित ज्ञान से युक्त हैं +। यह दिव्य वाणी है 'सत्य मन्त्र,' यह विचार (बुद्धि) है जिस के कि सत्य द्वारा अंगिरस् उषा को जन्म देते हैं और खोये हुए सूर्य को द्युलोक में उदित करते हैं।

इस दिव्य वाणी (ब्रह्म) के लिये दूसरा शब्द जो वेद में प्रयुक्त होता है वह है 'अर्क,' जिस के कि अर्थ दोनों होते हैं मन्त्र और प्रकाश, और जो कभी कभी सूर्य का भी वाचक होता है। इसलिये यह है प्रकाश की दिव्य-वाणी (ब्रह्म), वह वाणी (ब्रह्म) जो उस सत्य को प्रकाशित करती है जिस का कि सूर्य अधिपति है, और सत्य के गुह्य स्थान से इस का उद्भूत होना संबद्ध है सूर्य

---

* धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवान् जन्म गृणते यजध्यै ।
वेपिष्ठो अंगिरसां यद्ध विप्रः मधुच्छन्दो भनति रेभ इष्टौ ॥ (ऋ० ६-११-३)

* स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥ (ऋ० ६-७५-९)

× तुलना करो १०-६२ में जो अंगिरसों का वर्णन है कि, ये अग्नि के पुत्र हैं, रूप में विभिन्न हैं, पर ज्ञान में गंभीर हैं– 'गंभीर-वेपसः'।

+ वेद में ब्राह्मण शब्द का यही अर्थ प्रतीत होता है। यह तो निश्चित है कि, जात से ब्राह्मण या पेशे से पुरोहित इस का अभिप्राय बिलकुल नहीं है। यहां पितर योद्धा भी हैं, जहां विप्र हैं। चार वर्णों का वर्णन ऋग्वेद में एक ही जगह आया है, उस गंभीर पर अपेक्षाकृत पीछे की रचना पुरुषसूक्त में।

द्वारा अपनी गोरूप ज्योतियों की वर्षा करने से, सो हम ७-३६-१ में पढ़ते हैं ' सत्य के सदन से ब्रह्म उद्भूत होवे, सूर्यने अपनी रश्मियों द्वारा गौओंको उन्मुक्त कर दिया है '।

प्र ब्रह्मैतु सदनादृ ऋतस्य,
वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः।

इस (ब्रह्म) को भी जीतकर अधिगत करना, प्राप्त करना होता है जैसे कि स्वयं सूर्य को और देवोंको अपनी सहायता देनी होती है इस की प्राप्ति के लिये (अर्कस्य सातौ) जैसे कि सूर्य की प्राप्ति (सूर्यस्य सातौ) और स्वः की प्राप्ति के लिये (स्वर्षातौ)।

इसलिये अंगिरा न केवल अग्नि-बल है किन्तु बृहस्पति-बल भी है। बृहस्पति को अनेक वार ' आंगिरस ' करके पुकारा गया है जैसे कि, ६-७३-१ में—

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा
बृहस्पतिरांगिरसो हविष्मान्॥

' बृहस्पति, जो पहाडी को (पणिओं की गुफा को) तोडनेवाला, प्रथम उत्पन्न हुआ, सत्यवाला, आंगिरस और हविवाला है ' और १०-४७-६ में हम बृहस्पतिका आंगिरस रूप में और भी अधिक अर्थपूर्ण वर्णन पाते हैं।

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां
बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति॥
य आंगिरसः नमसोपसद्यः
... ...

' विचार (बुद्धि) बृहस्पति की तरफ जाता है, सात किरणोंवाले, सत्य धारणावाले, पूर्ण मेधावाले की तरफ, जो आंगिरस है, नमस्कार द्वारा पास पहुंचने योग्य। ' २-२३-१८ में भी गौओं की उन्मुक्ति और जलोंकी उन्मुक्ति के प्रकरण में बृहस्पति को ' अंगिरः ' संबोधित किया गया है।

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो
गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इंद्रेण युजा तमसा परीवृतं
बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्।

' तेरी विभूतिके लिये पर्वत जुदा जुदा फट गया जब कि, हे अंगिरः ! तूने गौओं के बाडे को ऊपर उन्मुक्त कर दिया, इन्द्रके साथ में, हे बृहस्पति ! तूने जलोंके पूरको बलपूर्वक खोल दिया जो अन्धकार से सब तरफ से आवृत था। '

हम यहां प्रसंगवश इस बातकी तरफ भी ध्यान दे सकते हैं कि, जलों की उन्मुक्ति जो कि वृत्रगाथा का विषय है कितनी घनिष्ठताके साथ गौओं की उन्मुक्तिके साथ संबद्ध है जो कि अंगिरस् ऋषिओं की और पणिओं की गाथा का विषय है तथा यह कि, वृत्र और पणि दोनों ही अन्धकार की शक्तियां हैं। गौ सत्य की, सच्चे प्रकाशकर्ता सूर्य की (' सत्यं तत् ... सूर्यम् ') ज्योतियां हैं, और वृत्र के आवरक अन्धकार से उन्मुक्त हुए जलों को कभी सत्य की धारायें, (ऋतस्य धाराः,) कहा गया है तो कभी 'स्वर्वतीः आपः ' अर्थात् स्वः के, प्रकाशमय सौर लोक के जल।

तो हम देखते हैं कि, प्रथम तो अंगिरस् अग्नि की-द्रष्टृ-संकल्प की--शक्ति है, वह ऋषि है जो कि, प्रकाशद्वारा, ज्ञान द्वारा काम करता है। वह अग्निके पराक्रमकी ज्वाला है; उस अग्नि के जो महान् शक्ति के रूप में यज्ञ का पुरोहित होने के लिये और यात्रा का नेता बनने के लिये जगत् में उत्पन्न हुवा है, अग्नि जो कि, वह पराक्रम है जिस के विषय में वामदेव (४-१-१) देवों से प्रार्थना करता है कि, वे उसे यहां मर्त्यों में अमर्त्य के तौरपर स्थापित करें, वह बल जो कि, महान् कार्य (अरति) को सम्पन्न करता है। फिर दूसरे स्थान पर अंगिरस् बृहस्पति की शक्ति है या कम से कम बृहस्पति की शक्ति से युक्त है, वह बृहस्पति जो कि, सत्य विचारनेवाला और सात किरणोंवाला है, जिस की प्रकाशमय सात किरणें उस सत्य को धारण करती हैं जिसे वह विचारता है (सप्तधीति), और जिस के सात मुख उस शब्द (मन्त्र) को जपते हैं जो सत्य का प्रकाश करता है, वह देव जिस के विषयमें (४-५०-४,५) कहा गया है-

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो
महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि
सप्तरश्मिरधमत् तमांसि॥
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन
वलं रुरोज फलिगं रवेण।
... ...

'बृहस्पति, जो प्रथम होकर उत्पन्न होता है महान् प्रकाश में से उच्चतम आकाश में, बहुतसे रूपों में उत्पन्न होनेवाला, सात मुखवाला, सात रश्मिवाला अपने शब्द से अन्धकार को छिन्नभिन्न कर देता है। वह अपने ऋक् तथा स्तुभ् (प्रकाश के मन्त्र तथा देवों के पोषक छन्द) वाले गण (सेना) द्वारा वल को अपने शब्द से भग्न कर देता है।' इस में सन्देह नहीं किया जा सकता कि बृहस्पति के इस गण या सेना से (सुष्टुभा ऋक्वता गणेन) यहां अभिप्राय अंगिरस् ऋषियों से ही है जो कि सत्य मन्त्र द्वारा इस महान् विजय में सहायता करते हैं।

इन्द्र के लिये भी वर्णन आता है कि, वह अंगिरस् बनता है या अंगिरस् गुणों से युक्त होता है। ⊛ 'वह अंगिरसों के साथ अंगिरस्तम होवे, वृषों के साथ वृष (वृषा पुंशक्ति है, पुरुष की नृ की शक्ति है, रश्मिओं और 'अपः' जलों की अपेक्षा से जो कि 'गावः' 'धेनवः' होते हैं), सखाओं के साथ सखा होता हुवा, वह ऋक्-वालों के साथ ऋक्वाला, यात्रा करनेवालों (गातुभिः= जो आत्मायें विशाल और सत्यस्वरूप तक पहुंचानेवाले मार्गपर अग्रसर होती हैं उनके) के साथ सब से बडा है, वह इन्द्र हमारे फलनेफूलने के लिये मरुत्वान् (मरुतों से संयुक्त) होवे।' यहां प्रयुक्त किये गये विशेषण सब अंगि-रस् ऋषियों के अपनी निजी विशेषण हैं और यह कल्पना तथा आशा की गई है कि, अंगिरस्त्व (अंगिरसपने) को बनानेवाले जो संबन्ध या गुण हैं उन्हें इन्द्र अपनेमें धारण कर लेवे। इसी तरह ऋ. ३-३१-७ में कहा है-

अगच्छदु विप्रतमः सखीयन् असूदयत् सुकृते गर्भमद्रिः। ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन् अथा-भवद् अंगिराः सद्यो अर्चन्॥

'सब से अधिक ज्ञान प्रकाशवाला (विप्रतमः, यह ६-११-३ के 'वेपिष्ठो अंगिरसां विप्रः' का संवादी प्रयोग है), मित्र होता हुवा (सखीयन्, अंगिरस् महान् युद्ध में मित्र या साथी होते हैं) वह चला (अगच्छत्- उस मार्गपर- गातुभिः- जिसे सरमाने खोज निकाला था), पहाडीने सुकर्म करनेवाले के लिये अपनी गर्भित वस्तु (गर्भम्) को तुरंत प्रस्तुत कर दिया, जवानोंसहित उस मर्दने (मर्यो युवभिः- युवा शब्द अजर अक्षीण शक्ति के भाव को भी प्रकट करता है) संपत्ति की पूर्णता को चाहते हुए उसे अधिगत कर लिया (मखस्यन् ससानः) इस तरह एकदम स्तोत्र गाते हुए (अर्चन्) वह अंगिरस् हो गया।'

यह इन्द्र जो कि, अंगिरस् के सब गुणों को धारण कर लेता है, हमें स्मरण रखना चाहिये, स्वः का (सूर्य या सत्य के विस्तृत लोक का) अधिपति है और यह हमारे पास नीचे उतर आता है अपने दो चमकीले घोडों (हरि) के साथ-- जिन घोडों को एक जगह 'सूर्यस्य केतुः' पुकारा गया है अर्थात् सूर्य की ज्ञानमयी बोध की या दृष्टि की दो शक्तियां - इसलिये कि यह अन्धकार के पुत्रों के साथ युद्ध करे और महान् यात्रा में सहायता पहुंचावे। वेद के गुह्य अर्थ के सम्बंध में हम जिन परिणामों पर पहुंचे हैं वे सब यदि ठीक हैं तो इन्द्र अवश्य ही दिव्य मन की शक्ति (इन्द्र, पराक्रममूर्ति, शक्तिशाली × देव) होना चाहिये, उस दिव्य मन की जो कि मनुष्य के अन्दर जन्म ग्रहण करता है और वहां शब्द (ब्रह्म, मन्त्र) तथा सोम द्वारा बढता है अपनी पूर्ण दिव्यता तक पहुंचने के लिये।

यह वृद्धि प्रकाश के जीतने तथा बढने के द्वारा जारी रहती है, बढती जाती है, जबतक कि इन्द्र अपने आपको पूर्णतया उस संपूर्ण प्रकाशमय गोसमूह के अधिपति के रूप में प्रकट नहीं कर देता जिसे कि वह 'सूर्य की आंख' द्वारा देखता है, जब तक कि वह ज्ञान के संपूर्ण प्रकाशोंका स्वामी दिव्य मन नहीं बन जाता। इन्द्र अंगिरस् बनने में मरुत्वान् होता है अर्थात् मरुतोंवाला या मरुत् हैं सह-चारी जिस के ऐसा बनता है, और ये मरुत्, आंधी और विद्युत् के चमकीले तथा रौद्र देव, वायु की अर्थात् प्राण या जीवन के अधिष्ठातृ देव की जबर्दस्त शक्ति को और अग्नि अर्थात् द्रष्टृ-संकल्प की शक्तिको अपने अन्दर मिलाते

⊛ **सो अंगिरोभिरंगिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन्।**
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ऋ. १-१००-४

× पर साथ ही शायद 'चमकीला' भी; जैसे इन्दु= चन्द्रमा; इन्द्र= तेजस्वी, सूर्य; इन्ध्= प्रदीप्त करना।

हैं, अत एव ये ऋषि (कवि) हैं जो ज्ञान से (अपना) कार्य करते हैं, (कवयो विद्मनापसः), जब कि ये साथ ही युद्ध करनेवाली शक्तियां भी हैं जो दृढतया स्थापित वस्तुओंको, कृत्रिम बाधाओं को, (कृत्रिमाणि रोधांसि), जिन में द्युलोक के प्राण और द्युलोक की विद्युत् की शक्ति द्वारा अन्धकार के पुत्रोंने अपने को सुरक्षित रूप से जमा रखा है, उखाड फेंकती हैं, और वृत्र तथा दस्युओं को जीतने में इन्द्र को सहायता देती हैं।

गुह्य वेद के अनुसार ये मरुत् वे जीवन-शक्तियां प्रतीत होती हैं जो कि मर्त्य चेतना के अपने आपको सत्य और आनन्द की अमरता में बढाने या विस्तृत करने के प्रयत्न में विचार के कार्य को अपनी वातिक या प्राणिक शक्तियों द्वारा पोषण प्रदान करती हैं। कुछ भी हो, इन्हें भी ६-४९-११ में अंगिरस् के गुणों के साथ काम करते हुए (अंगिरस्वत्) वर्णित किया गया है- 'हे जवानो और ऋषिओ तथा यज्ञ की शक्तिओ, मरुतो! (दिव्य) शब्द का उच्चारण करते हुए उच्च स्थानपर (या पृथ्वी के वरणीय स्तरपर या पहाडी पर 'अधि सानु पृश्नेः' जो कि बहुत संभवतः वरस्याम् का अभिप्राय है) आओ, शक्तियो जो कि बढती हो, अंगिरस् + के समान ठीक ठीक चलती हो (मार्गपर, गातु), उस को भी जो कि प्रकाशयुक्त नहीं है (अचित्रम्, वह जिसने कि उषा के चित्रविचित्र प्रकाश को नहीं पाया है, हमारे साधारण अन्धकार की रात्रि) प्रसन्नता देते हो।' × यहां हम अंगिरस् कार्य की उन्हीं विशेषताओंको देखते हैं, अग्नि की नित्य जवानी और शक्ति (अग्ने यविष्ठ), शब्द को प्राप्त करना और उसका उच्चारण करना, ऋषित्व (ब्रह्मत्व), यज्ञ के कार्य को करना, महान् मार्ग पर ठीक ठीक चलना जो कि, जैसा कि हम देखेंगे, सत्य के शब्द की ओर, बृहत् और प्रकाशमय आनन्द की ओर ले जाता है। मरुतों को ऐसा भी कहा गया है (१०।७८।५) कि मानो वे वास्तवमें "अपने सामसूक्तों सहित अंगिरस् हों, वे जो कि सब रूपों को धारण करते हैं," (विश्वरूपा अंगिरसो न सामभिः।)

यह सब कार्य और प्रगति तब संभव बताये गये हैं जब कि उषा आती है। उषा का भी 'अङ्गिरस्तमा' कह के तथा इस के अतिरिक्त 'इन्द्रतमा' भी कह के वर्णन किया गया है। अग्नि की शक्ति, अङ्गिरस-शक्ति, अपने आप को इन्द्र की विद्युत् में तथा उषा की किरणों में भी व्यक्त करती है दो ऐसे सन्दर्भ उद्धृत किये जा सकते हैं जो कि अङ्गिरस-शक्ति के इस पहलू पर प्रकाश डालते हैं। पहला है ७।७९।२,३ * "उषायें अपनी किरणों को द्युलोक के प्रान्तों, छोरों तक चमकने देती हैं, वे उन लोगों के समान मेहनत करती हैं जो कि किसी काम पर लगाये गये होते हैं।

"तेरी किरणें अन्धकारको भगा देती हैं, वे प्रकाश को ऐसे फैलाती हैं मानो कि सूर्य अपनी दो बाहुएं फैला रहा हो। उषा हो गई है (या उत्पन्न हुई है) इन्द्र-शक्ति से अधिक से अधिक पूर्ण (इन्द्रतमा), ऐश्वर्यों से समृद्ध और उस ने हमारे कल्याण जीवन के लिये (या भलाई और आनन्द के लिये) ज्ञान की अन्तःप्रेरणाओं, श्रुतियों को जन्म दिया है, देवी, द्युलोक की पुत्री, अङ्गिरस-पन से अधिक से अधिक भरी हुई (अङ्गिरस्तमा) अच्छे कामों

+ यह ध्यान देने योग्य है कि सायण यहां इस विचार को पेश करने का साहस करता है कि अंगिरस् का अर्थ है गतिशील किरणें (अंग्=गति करना इस धातु से) या अंगिरस् ऋषि। यदि वह महान् पण्डित अपने विचारों का और भी अधिक साहस के साथ अनुसरण करता हुआ उस के तार्किक परिणाम तक पहुंचने में समर्थ होता, तो वह आधुनिक वाद का उसके मुख्य मूलभूत अंगों में पहले से ही पता पा लेता।

× आ युवानः कवयो यज्ञियासो मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम्।
अचित्रं चिद्धि जिन्वथा वृधन्त इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत् ॥ ऋ. ६।४९।११

* व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।
सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू ॥
अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥ ऋ. ७।७९।२,३

को करनेवाले के लिये अपने ऐश्वर्योंका विधान करती है।"

वे ऐश्वर्य जिन से कि उषा समृद्धिशालिनी है प्रकाश के ऐश्वर्य और सत्य की शक्ति के सिवाय और कुछ नहीं हो सकते; इन्द्र-शक्ति से अर्थात् दिव्य ज्ञानदीप्त मन की शक्ति से परिपूर्ण, वह (उषा) उस दिव्य मन की अन्तः-प्रेरणाओं, श्रुतियों को (श्रवांसि) देती है जो श्रुतियां हमें आनन्द की तरफ ले जाती हैं, और अपने में विद्यमान ज्वालायुक्त जाज्वल्यमान अङ्गिरस-शक्ति के द्वारा वह अपने खजानों को उन के लिये प्रदान करती और विधान करती है जो कि महान् कार्य को ठीक ढंग से करते हैं और इस प्रकार मार्ग पर ठीक तरीके से चलते हैं- (इत्था नक्षन्तो अंगिरस्वत्)।

दूसरा संदर्भ ७।७५ में है- "द्युलोक से उत्पन्न हुई उषा ने सत्य के द्वारा (अन्धकार के आवरण को) खोल दिया है और वह विशालता (महिमानम्) को व्यक्त करती हुई आती है, उसने द्रोहों और अन्धकार (द्रुहस्तमः) के आवरणको हटा दिया है, तथा उस सबके जो कि प्रीतिरहित (अजुष्टं) है, अंगिरस्-पन से अधिक से अधिक परिपूर्ण वह (महान् यात्रा के) मार्गों को दिखलाती है।

" आज हे उषः ! हमें महान् आनन्द (महे सुविताय) की यात्रा के लिये जगाओ, सुखभोग की महान् अवस्था के लिये (अपने ऐश्वर्यों को) विस्तारित करो, हम में अन्तःप्रेरित ज्ञान से पूर्ण (श्रवस्युम्) विविध दीप्तिवाले (चित्रम्) धनको धारण कराओ, हे हम मर्त्यों में मानुषि और देवि ! । ये हैं दृश्य उषा की दीप्तियां जो कि आई हैं, विविधतया दीप्त (चित्राः) और अमर रूप में, दिव्य कार्यों को जन्म देती हुई वे अपने आप को प्रसारित करती हैं, अन्तरिक्ष के कार्यों को उन से भरती हुई, "—

जनयन्ता दैव्यानि व्रतानि,
आपृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः । ×

हम फिर अंगिरस्-शक्ति को यात्रा से सम्बन्धित पाते हैं, अन्धकार को दूर करनेद्वारा तथा उषा की ज्योतियों को लानेद्वारा इस यात्रा के मार्गों का प्रकाशित होना पाते हैं। पणि प्रतिनिधि हैं, उन हानियों के (द्रुहः, क्षतियां या वे जो क्षति पहुंचाते हैं) जो दुष्ट शक्तियों द्वारा मनुष्य को पहुंचायी जाती हैं, अन्धकार उन की गुफा है; यात्रा वह है जो कि प्रकाश और शक्ति और ज्ञान के हमारे बढते हुए धन के द्वारा हमें दिव्य सुख और अमर आनन्द की अवस्था की ओर ले जाती है।

उषा की अमर दीप्तियां जो मनुष्य में दिव्य कार्यों (व्रतों) के जन्म देती हैं और पृथिवी तथा द्यौ के बीच में स्थित अन्तरिक्ष के कार्यों को (अर्थात्, उन प्राणमय स्तरों के व्यापार को जो कि वायु से शासित होते हैं और हमारी भौतिक तथा शुद्ध मानसिक सत्ता को जोडते हैं) उन से (अपने दिव्य कार्यों से) आपूरित कर देती हैं वे ठीक ही अंगिरस शक्तियां हो सकती हैं। क्योंकि वे भी दिव्य कार्यों को अक्षत बनाये रखने के द्वारा (अमर्धन्तो दैव्या व्रतानि) सत्य को प्राप्त करते और उस को बनाये रखते हैं। निश्चय ही यह उनका (अंगिरसों का) व्यापार है कि वे दिव्य उषा को मर्त्य (मानुष) प्रकृति के अन्दर उतार लावें जिस से कि वह दृश्य (प्रकट) देवी अपने ऐश्वर्यों को उँडेलती हुई वहां उपस्थित हो सके, जो कि एकदम देवी और मानुषी है, (देवि मर्त्येषु मानुषि), देवी जो मर्त्यों में मानुषी हो कर आयी है।

× व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाऽऽविष्कृण्वाना महिमानमागात् ।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः ॥
महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्र यन्धि ।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम् ॥
एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः ।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः ॥ (ऋ० ७-७५-१,२,३)

वेदका रहस्य।

[अध्याय १६]

सात सिरोंवाला विचार, स्वः और दशग्वा ऋषि।

[लेखक- श्रीअरविंद; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

तो वैदिक मंत्रों की भाषा अंगिरस ऋषियों के द्विविध रूप का प्रतिपादन करती है। एक का संबन्ध वेद के बहिरंग से है; इसमें सूर्य, ज्वाला, उषा, गौ, अश्व, सोम-सुरा, यज्ञिय मन्त्र ये सब एक दूसरे से गुंथ कर एक प्रकृतिवाद-सुलभ रूपक बनाते हैं, दूसरे अन्तरंग रूप में इस रूपक में से इस का आन्तरिक आशय निकाला जाता है। अङ्गिरस ज्वाला के पुत्र हैं, उषा की ज्योतियां हैं, सोम-रस को पीनेवाले और देनेवाले हैं, मन्त्र के गायक हैं, सदा युवा रहनेवाले और ऐसे वीर हैं कि सूर्य को, गौओं को, घोडों को और सारे ही खजानों को अन्धकार के पुत्रों के पञ्जे से हमारे लिये छीन लाते हैं। पर साथ ही वे सत्य के द्रष्टा, सत्य के शब्द को पा लेनेवाले और उस के बोलनेवाले हैं, और सत्य की शक्ति के द्वारा वे प्रकाश और अमरता के उस विशाल लोक को हमारे लिये जीत लाते हैं जिसका वेद में इस रूप में वर्णन हुआ है कि वह बृहत् है, सत्य है, ऋत है और उस ज्वाला का स्वकीय घर है जिसके कि वे अङ्गिरस पुत्र हैं। यह भौतिक रूपक और ये आध्यात्मिक निर्देश आपस में बडी घनिष्ठता के साथ गुंथे हुए हैं और वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।

इसलिये हम सामान्य बुद्धि के आधार पर ही इस परिणाम पर पहुंचनेके लिये बाध्य होते हैं कि, वह ज्वाला जिस का कि ऋत और सत्य अपना स्वकीय घर है, स्वयं उस ऋत और सत्य की ही ज्वाला है, कि वह प्रकाश जो कि सत्य से और सत्य विचार की शक्ति से जीतकर प्राप्त किया जाता है सिर्फ भौतिक प्रकाश नहीं है, वे गौएं जिन्हें सरमा सत्य के पथपर चलकर पाती है केवल भौतिक पशु नहीं हैं, घोडे केवल वह द्रविड लोगों की भौतिक पशुओं की संपत्ति नहीं है जिसे आक्रांता आर्यजातियोंने जीतकर अपने अधीन कर लिया था, न ही ये सब केवलमात्र भौतिक उषा, इस के प्रकाश और इस की तेजी से गति करती हुई किरणों के ही रूपकात्मक वर्णन हैं, और न वह अन्धकार जिस के कि पणि तथा वृत्र रक्षक हैं केवल भारत की या उत्तरीय ध्रुव की रात्रियोंका अन्धकार मात्र है। हम तो अब यहां तक बढ चुके हैं कि, इस विषयमें एक युक्तियुक्त कल्पना प्रस्तुत कर चुके हैं, जिस के कि, द्वारा हम इस सब आलङ्कारिक रूपक के असली अभिप्राय को सुलझा सकते हैं और इन ज्योतिर्मय देवों तथा इन दिव्य प्रकाशमान ऋषियों की [अर्थात् अंगिरसों की] वास्तविक दिव्यता की खोज निकाल सकते हैं।

अङ्गिरस् ऋषि एक साथ दिव्य और मानव दोनों प्रकार के द्रष्टा हैं। वेद में ऐसा द्विविध स्वरूप अपने आप में केवल इन ऋषियोंके लिए ही असाधारण या विशिष्ट धर्म नहीं है। वैदिक देवताओं की भी दो प्रकार की क्रिया होती है; वे दिव्य हैं और अपने स्वरूप में पहिलेसे विद्यमान हैं, पर वे मर्त्य स्तर पर अपनी क्रिया करते हुए मानव हो जाते हैं जब कि वे मनुष्य के अन्दर महान् उत्थान के लिये क्रमशः बढ रहे होते हैं। उषा देवीकी स्थिति वर्णन करते हुए यह भाव बडे सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है, ' देवी जो कि, मर्त्यों के अन्दर मानुषी है, ' (देवी मर्त्येषु मानुषी) पर अंगिरस् ऋषियों के रूपक में यह द्विविध स्वरूप परम्परा के द्वारा और अधिक पेचीदा हो गया है, जिस परम्परा के अनुसार कि वे मानव पितर हैं, प्रकाश के, मार्ग के और लक्ष्य के अन्वेषक हैं। इसें देखना होगा कि यह पेचीदगी वैदिक सम्प्रदाय और वैदिक प्रतीकवाद की हमारी कल्पना पर क्या प्रभाव डालती है।

अङ्गिरस् ऋषि सामान्यतः संख्या में सात वर्णन किये

गये हैं, वे '**सप्त विप्राः**' हैं जो कि पौराणिक-परम्परा × द्वारा हम तक सप्तर्षि [सात ऋषि] के रूप में पहुंचे हैं और जिन्हें भारतीय नक्षत्र-विद्याने बृहद् ऋक्ष के तारा-मण्डल में बैठा दिया है। पर साथ ही उन्हें 'नवग्वा' और 'दशग्वा' रूपमें भी वर्णित किया गया है। यद्यपि ऋ. ६.२२.२ में उन प्राचीन पितरोंके विषयमें कहा गया है कि सात द्रष्टा जो कि नवग्वा थे, (**पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो**) तो भी ३.३९५ में हम नवग्वा तथा दशग्वा इन दो विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख पाते हैं, जिन में कि दशग्वा संख्या में दस हैं और नवग्वा शायद नौ हैं, यद्यपि इन के नौ होने के बारे में स्पष्ट वर्णन नहीं है–

> **सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्व-भिर्गा अनुग्मन्। सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् ॥**

'जहां अपने सखाओं नवग्वाओं के साथ एक सखा इन्द्रने गौओं का अनुसरण करते हुए दस दशग्वाओं के साथ उस सत्य को पा लिया, सूर्य को भी जो कि, अन्धकार में रह रहा था।' दूसरी ओर ऋ. ४.५१.४ में हमें अङ्गिरसों के बारे में एक सामूहिक, एकवचनात्मक वर्णन मिलता है कि वे सात चेहरोंवाले या सात मुखोंवाले, नौ किरणोंवाले और दस किरणोंवाले हैं– (**नवग्वे अंगिरे दशग्वे सप्तास्ये।**) १०.१०८.८ में हमें एक दूसरे ऋषि 'अयास्य' का नाम मिलता है जो कि नवग्वा अङ्गिरसों के साथ जुडा हुआ * है। १०.६७ में इस 'अयास्य' के लिये कहा गया है कि, वह हमारा पिता है जिसने सत्य में से उत्पन्न होनेवाले सात सिरों के महान् विचार को पाया है और यह अयास्य इन्द्र के लिये स्तुति-मन्त्रों का गान करता + है। इस के अनुसार कि नवग्वा सात या नौ हैं, अयास्य आठवां या दसवां ऋषि होगा।

परम्परा यह बताती है कि, आंगिरस् ऋषियों की दो श्रेणियों का पृथक् पृथक् अस्तित्व है, एक तो नवग्वा जिन्होंने नौ महीने यज्ञ किया और दूसरे दशग्वा जिन के यज्ञ का कार्यकाल दस महीने रहा। इस व्याख्या के अनुसार हमें नवग्वा और दशग्वा को इस रूप में लेना होगा कि, वे 'नौ गौओंवाले' और 'दस गौओंवाले' हैं और प्रत्येक गौ तीस उषाओं की द्योतक है जिनसे मिलकर यज्ञ के वर्ष का एक महीना बनता है। परन्तु कम से कम एक संदर्भ तो ऋग्वेद का ऐसा है जो कि ऊपर से देखने में इस परम्परागत व्याख्या के सीधा विरोध में जाता है। क्योंकि ५,४५ की ७ वीं ऋचा में और फिर ११ वीं में यह कहा गया है कि, वे नवग्वा थे, न कि दशग्वा, जिन्होंने दस महीने यज्ञ किया या स्तुति-मंत्रों का गान किया। यह ७ वीं ऋचा इस प्रकार है–

> अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन **दश मासो नवग्वाः।** ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार ॥

"यहां हाथ से हटाये हुए पत्थरने आवाज की (या वह हिला), जिस से कि **नवग्वा दस मास तक** मन्त्र पाठ करते रहे। सत्य की ओर यात्रा करती हुई सरमाने गौओं को पा लिया; अङ्गिरस्ने सब वस्तुओंको सत्य कर दिया।" और ११ वीं ऋचामें इस कथनको फिर दोहराया गया है–

> धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन् **दश मासो नवग्वाः।** अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः ॥

'मैं तुम्हारे लिये जलों में (अर्थात् सात नदियों में) उस विचार को रखता हूं जो कि, स्वर्ग को जीतकर हस्तगत कर लेता है, ⊛ (यह एक बार फिर उस सात सिरों

× यह आवश्यक नहीं है कि सप्तर्षियों के जो नाम पुराण में आते हैं वे वही हों जो कि वैदिक परम्परा में हैं।

* एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।

\+ इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्। तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्।

⊛ सायण ने इस का यह अर्थ लिया है कि 'मैं जलों के निमित्त से स्तुति करता हूं' अर्थात् इसलिये कि वर्षा हो,– 'धियं स्तुतिम् अप्सु अप्निमित्तं....दधिषे धारयामि।' पर यहां कारक अधिकरण-बहुवचन है, और 'दधिषे' का अर्थ है 'मैं रखता हूं या थामता हूं' अथवा अध्यात्मपरक अभिप्राय को लें तो, 'विचारता हूं' या 'विचारमें थामता हूं, अर्थात् ध्यान करता हूं'। 'धी' की तरह 'धिषणा' का अर्थ है 'विचार'; इस प्रकार 'धियं दधिषे' का अर्थ होगा 'मैं विचारता हूं' या 'विचार का ध्यान करता हूं'।

के विचार का वर्णन आ गया जो सत्य से उत्पन्न हुआ है और जिसे अयास्य ने पाया है), जिसके द्वारा नवग्वाओंने दस महीनों को पार किया। इस विचार के द्वारा हम देवों को अपने रक्षक रूप में पा सकें, इस विचार के द्वारा हम पापको अतिक्रमण कर सके।' कथन बिलकुल स्पष्ट है। सायणने अवश्य सातवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए एक हलकासा प्रयत्न यह किया है कि 'दश मास' दस महीने, को उसने विशेषण मान लिया है और फिर उसका अर्थ किया है 'दस महीनोंवाले अर्थात् दशग्वा' पर उसने भी इस असंभवसे अर्थ को वैकल्पिक रूप में ही ग्रहण किया है और ११ वीं ऋचा में इसे बिल्कुल छोड दिया है, वैकल्पिक रूपमें भी नहीं लिया है।

सो क्या हम यह अनुमान करें कि, इस सूक्त का कवि परम्परा को भूल गया था और इसलिये वह दशग्वा तथा नवग्वा में गडबड कर रहा था? ऐसी कोई कल्पना मानने योग्य नहीं है। कठिनाई हमारे सामने इसलिये उपस्थित होती है कि हम यह समझ बैठते हैं कि, वैदिक ऋषियों के मन में नवग्वा तथा दशग्वा ये अङ्गिरस ऋषियों की दो अलग अलग श्रेणियां थीं। परन्तु इस की अपेक्षा प्रतीत यह होता है कि, ये दोनों आंगिरसत्वकी (अंगिरसपन की) दो अलग अलग शक्तियां थीं और उस अवस्था में नवग्वा ऋषि ही दशग्वा हो सकते थे, यदि वे अपने यज्ञके कालको नौके स्थान पर बढा कर दस महीने का कर लेवे। सूक्तमें 'दशमासो अतरन्' इस प्रयोग से यह भाव प्रकट होता है कि, पूरे दस महीने के समय को पार कर लेने में कोई कठिनाई सामने आती थी। प्रतीत होता है कि, यही काल था जिस के बीच में अन्धकार के पुत्रों को यज्ञपर आक्रमण करने का सामर्थ्य या हौसला हो सकता था; क्योंकि यह सूचित किया गया है कि, ऋषि दस महीनों को केवल तभी पार कर सकते हैं जब कि वे उस विचार को अपने अन्दर धारण कर लेते हैं जो कि, 'स्वः' अर्थात् सौर लोक को जीत लानेवाला है, पर एक बार जब वे इस विचार को पा लेते हैं, तब निश्चित ही वे देवताओं के रक्षण में हो जाते हैं और तब वे पापके आक्रमणों से पार हो जाते हैं, पणियों और वृत्रों के द्वारा हो सकनेवाली क्षतियों से परे हो जाते हैं।

यह 'स्वः' को विजय कर लानेवाला विचार (स्वर्षा धीः) निश्चय से वही है जो कि, सात सिरोंवाला विचार (सप्तशीर्ष्णी धीः) है, सात सिरोंवाला वह विचार जो सत्य में से पैदा हुआ है और जिसे नवग्वाओं के साथी अयास्यने खोज निकाला है। क्योंकि हमें बताया गया है कि, अयास्य इस के द्वारा 'विश्वजन्य' हो गया और सब लोकों के जन्मों का आलिंगन करते हुए उसने एक चौथे लोक को या चतुर्व्यूह लोक को उत्पन्न किया और यह चौथा लोक निश्चये तीन लोकों द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी से परे का अतिमानस लोक ही होना चाहिये जो कि घोर के पुत्र कण्व के अनुसार वह लोक है जहां मनुष्य वृत्र का वध कर चुकने के बाद द्यावा-पृथिवी को पार कर लेने के द्वारा पहुंचते हैं।

इसलिये यह चौथा लोक 'स्वः' ही होगा। अयास्य का सात-सिरों-वाला विचार उसे 'विश्वजन्य' बन जाने लायक कर देता है, जिस का संभवतः यह अभिप्राय है कि, वह आत्मा के सब लोकों या जन्मों को अधिगत (प्राप्त) कर लेता है, और वह विचार उसे इस योग्य कर देता है कि, वह किसी चौथे लोक (स्वः) को प्रकट या उत्पन्न कर सके, (तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्यः) और वह विचार भी जो कि सात नदियोंमें स्थापित किया गया है और जिस से नवग्वा ऋषि दस महिनों को पार कर लेने योग्य हो जाते हैं 'स्वर्षा' है अर्थात् वह 'स्वः' पर अधिकार करा देता है। ये दोनों स्पष्टतया एक ही हैं। तो क्या इस से हम इस परिणाम पर नहीं पहुंचते कि, वह अयास्य ही है जिसके नवग्वाके साथ आ मिलने से नवग्वाओं की संख्या बढकर दस हो जाती है, और जो 'स्वः' को जीत लेनेवाले सात सिरोंवाले विचार की अपनी खोज से उन्हें इस योग्य बना देता है कि वे नौ महीने के यज्ञ को लंबा कर के दसवें महीने तक ले जा सकें? इस प्रकार वे दस दशग्वा हो जाते हैं। इस प्रकरण में हम इस पर भी ध्यान दे सकते हैं कि सोमके मद का, जिस से कि इन्द्र 'स्वः' की द्युति (स्वर्णर) को प्रकट करता है या बढाता है; इस रूप में वर्णन हुआ है कि, वह दस किरणोंवाला है और प्रकाशक है (दशग्वं वेपयन्तम्)।

यह परिणाम ३.३९.५ के संदर्भ से जिसे हम पहले ही उद्धृत कर आये हैं, पूरी तौर से पुष्ट हो जाता है। क्योंकि वहां हम पाते हैं कि, इन्द्र खोई हुई गौओं के पद-चिह्नों का अनुसरण तो नवग्वाओं की सहायता से करता है, पर वह केवल दस दशग्वाओं की मदद से ही हो पाता है कि, वह उस अनुसरण का जो उद्देश्य है उस में सफल होता है और वह उस सत्य को, सत्यं तत् उस सूर्य को जो कि, अन्धकार में पड़ा हुआ था, पा लेता है। दूसरे शब्दों में जब नौ महीने का यज्ञ लंबा हो कर दसवें महीने में पहुंच जाता है, जब नवग्वा दसवें ऋषि अयास्य के सात-सिरों-वाले विचार के द्वारा दस दशग्वा बन जाते हैं, तभी 'सूर्य' मिल पाता है और 'स्वः' का प्रकाशमान लोक खुल जाता है तथा जीत लिया जाता है। 'स्वः' की यह विजय ही यज्ञ का और अङ्गिरस ऋषियों से पूर्ण किये जानेवाले महान् कार्य का लक्ष्य है।

पर महीनों के अलंकार का क्या अभिप्राय है? क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह एक अलंकार है, एक रूपक है, इसलिये वर्ष यहां प्रतीकरूप है और महीने भी प्रतीक रूप हैं ॐ। यह एक वर्ष के चक्कर में हो पाता है कि, खोया हुआ सूर्य और खोई हुई गौएं फिर से प्राप्त होती हैं, क्योंकि १०.६२.२ में हम स्पष्ट कथन पाते हैं-

ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्।

सत्य के द्वारा, एक वर्ष के चक्कर में अथवा, सायणने जैसी इस की व्याख्या की है कि, 'उस यज्ञ के द्वारा जो कि, एक वर्ष तक चला, उन्होंने वल का भेदन किया।' यह संदर्भ अवश्य उत्तरीय ध्रुववाली कल्पना का अनुमोदन करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यहां सूर्य के दैनिक नहीं, किंतु वार्षिक प्रत्यावर्तन का उल्लेख है। लेकिन अलंकार के इस बाह्य रूप से हमारा कोई संबंध नहीं, न ही इस का प्रमाणित हो जाना हमारी अपनी कल्पनापर किसी प्रकारसे असर डालता है; क्योंकि यह बडी अच्छी प्रकार हो सकता है कि, उत्तरीय ध्रुव की लंबी रात्रि, वार्षिक सूर्योदय तथा अविच्छिन्न उषाओं के अद्भुत अनुभव को रहस्यवादियोंने आत्मिक रात्रि तथा इस में से कठिनता से होनेवाले प्रकाशोदय का अलंकार बना लिया हो। पर समय का, महीनों तथा वर्षों का यह विचार प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, यह बात वेद के दूसरे संदर्भों से स्पष्ट होती है, विशेषकर बृहस्पति को कहे गये गृत्समद के सूक्त २.२४ से।

इस सूक्त में बृहस्पति का वर्णन इस रूप में किया गया है कि, उसने गौओं को हाँका, दिव्य शब्द के द्वारा, ब्रह्मणा, बल को तोड डाला, अन्धकार को छिपा दिया और 'स्वः' को सुदृश्य कर दिया ×। इस का पहिला परिणाम यह होता है कि, वह कुआँ बलपूर्वक तोडा जाकर (यमोजसा तृणत्) खुल जाता है, जिस के मुंह पर चट्टान पडी हुई है और जिस की धारायें शहद की मधु की, सोम के माधुर्य की हैं, ('अश्मास्यम् अवतं मधुधारम्')। चट्टान से ढका हुआ, यह शहद का कुआँ अवश्य वह आनन्द है, या दिव्य मोक्षसुख है, जो आनन्दमय अत्युच्च त्रिगुणित लोक में रहता है, जो त्रिगुणित लोक पौराणिक संप्रदाय के सत्य, तपस् और जन-लोक हैं जो कि, सत्, चित्-तपस् और आनन्द इन तीन उच्चतम तत्त्वों पर आश्रित हैं। इन तीन के अधोभाग में चौथा वेद का 'स्वः' और उपनिषद् व पुराणों का 'महः' है, जो सत्य का लोक है +। इन चारों से मिल-

---

ॐ देखो कि पुराणोंमें युग, पल, मास आदि सब प्रतीकरूप हैं और यह कहा गया है कि, मनुष्यका शरीर संवत्सर है।

× उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः। (ऋ. २. २४. ३)

+ उपनिषद् तथा पुराणों में 'स्वः' और 'द्यौः' में कोई फर्क नहीं किया गया है। इस लिए यह आवश्यक हुआ कि, 'सत्य के लोक' के लिए एक चौथा नाम ढूंढा जाय और वह 'महः' मिल गया है, जिस के विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् में यह कहा है कि, महाचमस्यने इसे चौथी व्याहृति के रूप में जाना था, जब कि शेष तीन व्याहृतियां थीं, स्वः, भुवः और भूः अर्थात् वेद के द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी।

(देखो, तै० ५।१- भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थी महाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति।)

कर चतुर्गुणित चौथा लोक बनता है, तुरीय, नीचे के तीन लोकों की अपेक्षा से चौथा। ऋग्वेद में इन चार का वर्णन इस रूप में आया है कि, ये चार अत्युच्च तथा गुह्य स्थान हैं और 'उच्चतर चार नदियों' के आदि स्रोत हैं। तो भी यह ऊपर का चतुर्गुणित लोक कहीं कहीं दो में विभक्त हुआ प्रतीत होता है, 'स्वः' जिस का अधोभाग है और 'मयः' या दिव्य मोक्षसुख शिखर है, जिस से कि आरोहण करते हुए आत्मा के पांच लोक या जन्म (दो ये और तीन निम्नतर) हो जाते हैं। अन्य तीन नदियां सत्ता की तीन निम्नतर शक्तियां हैं, जिन से कि तीन निम्न लोकों के तत्त्व निर्मित होते हैं।

इस रहस्यमय शहद के कुएँ को वे सब पीते हैं, 'स्वः' को देखने में समर्थ होते हैं और वे इस के लहराते हुए माधुर्य के स्रोत को खोल कर एक साथ कई धाराओं में प्रवाहित कर देते हैं।

तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं
सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥ ४ ॥

एक साथ प्रवाहित की गई बहुतसी धारायें वे ही सात नदियां हैं, जो इन्द्र के द्वारा वृत्र का वध कर चुकने के बाद पर्वत से नीचे की ओर बहाई जाती हैं, ये सत्य की धारायें या नदियां हैं, (ऋतस्य धाराः) और ये हमारी कल्पना के अनुसार सचेतन सत्ता के उन सात तत्त्वों की द्योतक हैं, जो कि सत्य में और आनन्द में अपनी दिव्य परिपूर्णता में होते हैं। यही कारण है कि, सात सिरोंवाले विचार को (सात सिरोंवाले विचार से अभिप्राय है, दिव्य सत्ता का ज्ञान जिस के कि सात सिर या शक्तियां हैं, या बृहस्पति का वह ज्ञान जो सात किरणोंवाला है) (सप्तगुम्) जलों में, सात नदियों में सुदृढ करना या विचार द्वारा स्थापित करना होता है, भाव यह है कि, दिव्य चेतनाके सात रूपोंको दिव्य सत्ता के सात रूपों या गतियों में रखना होता है; (धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षाम्) 'मैं स्वर्विजयी विचार को जलों में रखता हूं।'

स्वर्द्रष्टाओं, (स्वर्दृशः,) की आंखों के सामने 'स्वः' के सुदृश्य हो जाने से और उन के मधु के कुएं को पीने से तथा उस में से दिव्य जलों को बाहर प्रवाहित करने से यह होता है कि, नये लोक या सत्ता की नई अवस्थाएं प्रकाश में आ जाती हैं, यह बात हमें अगली ऋचा २.२४.५ में स्पष्ट रूप से कही मिलती है–

सना ता काचिद् भुवना भवीत्वा माद्भिः
शरद्भिर्दुरो वरन्त वः। अयतन्ता चरतो अन्य-
दन्यदिद् या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः ॥

'ये कोई सनातन लोक (सत्ता की अवस्थायें) हैं जिन्होंने आविर्भूत होना है, महीनों के द्वारा और वर्षों के द्वारा उन के द्वार तुम्हारे लिये बन्द * हैं (या खुले हैं); बिना ही प्रयत्न के एक (लोक) दूसरे में चला जाता है, और ये ही है जिन को कि ब्रह्मणस्पति ने ज्ञान के लिये व्यक्त किया है।' ये चार (या दो) सनातन लोक हैं जो 'गुहा' में छिपे हुए हैं, सत्ता के वे गुह्य, अनभिव्यक्त या परा चेतन अंश हैं जो यद्यपि अपने आप में सत्ता की सनातन रूप से विद्यमान अवस्थायें (सना भुवना) हैं, पर हमारे लिये वे असत् हैं और भविष्यमें हैं, उन्हें सद्रूप में लाया जाना है या रचा जाना है। इसलिये वेद में स्वः के लिये कहीं तो यह कहा है कि, उसे दृश्य किया गया (जैसे यहां, व्यचक्षयत् स्वः) या ढूंढ लिया गया और हस्तगत कर लिया गया (अविदत्, असनत्) और कहीं यह कहा है कि, उसे रचा गया (भू, कृ)।

ऋषि कहता है कि, ये गुह्य सनातन लोक समय की गति के द्वारा, महीनों और वर्षों द्वारा, हमारे लिये बन्द पड़े हैं; इसलिये स्वभावतः हमें समय की गति द्वारा ही इन्हें अपने अन्दर खोज लेना है, प्रकाशित करना है, जीतना है, रचना है, यद्यपि इस के विरोधी अर्थों में। एक आन्तरिक या आध्यात्मिक समय में होनेवाला यह

---

* सायण का कहना है कि, यहां 'वरन्त' का अर्थ है 'खुले हुए' जो कि बिल्कुल सम्भव है। पर आम तौर से 'वृ' का अर्थ भेडना, बन्द करना, ढक देना यही होता है, विशेष कर तब जब कि इस का प्रयोग उस पहाडी के द्वारों के लिये आता है, जहां से कि नदियां निकलकर बहती हैं और गौएं बाहर आती हैं; वृत्र दरवाजों को बन्द करनेवाला है। खोलना अर्थ 'वि-वृ' और 'अप-वृ' का होता है। तो भी यदि यहां 'वरन्त' का अर्थ खोलना ही हो, तो इस से हमारा पक्ष और अधिक प्रबल ही होता है।

विकास मुझे लगता है, वही है जिसे यज्ञिय वर्ष के और दस महीने के प्रतीक से प्रकट किया गया है, जो वर्ष और महीने कि उस से पहले बिताने होते हैं जब कि आत्मा का प्रकाशक मंत्र (ब्रह्म) सात सिरोंवाले उस स्वर्विजयी विचार को ढूंढ लेने योग्य होता है, जो अन्त में चलकर हमें वृत्र और पणियों की सब क्षतियों से पार कर देता है।

नदियों और लोकों का सम्बन्ध हमें १.६२ में स्पष्ट रूप से मिलता है, जहां कि, इन्द्र के विषय में यह वर्णन आया है कि, वह नवग्वाओं की सहायता से पर्वत को तोडता है और दशग्वाओं की सहायता से बल का भेदन करता + है। अंगिरस ऋषियों से स्तुति किया गया इन्द्र, उषा, सूर्य और गौओं के द्वारा अन्धकार को खोल देता है, वह पार्थिव पर्वत की ऊपर की चौरस भूमि को फैला कर विस्तृत कर देता है और द्यौ के उच्चतर लोक को थाम लेता है ×। क्योंकि चेतना के उच्चतर स्तरों को खोल देने का परिणाम होता है भौतिक स्तर के विस्तार का बढना और मानसिक स्तर की उच्चता का और ऊंचा होना। ऋषि नोधा कहता है, "वह सचमुच उस का सब से अधिक महान् कार्य है, उस कर्ता का सुन्दरतम कर्म है, "**इदमस्य चारुतममस्ति दंसः**," कि चार उच्चतर नदियां मधु की धारायें बहाती हुई कुटिलता के दो लोकों को पोषण देती हैं।"

उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः। ५

यह फिर वही मधु की धाराओंवाला कुआँ आ गया, जो अपनी अनेक धाराओं को एक साथ नीचे प्रवाहित करता है, जो धारायें दिव्य सत्ता, दिव्य चेतनाशक्ति, दिव्य आनन्द, दिव्य सत्य की वे चार उच्चतर नदियां हैं, जो अपने माधुर्य के प्रवाह के साथ मन और शरीर के दो लोकों के अन्दर उतर कर उन्हें पालती-पोसती हैं। ये दो लोक, ये रोदसी, साधारणतः कुटिलता के अर्थात् अनृत के लोक हैं– ऋत या सत्य सरल है और अनृत या असत्य कुटिल है– क्योंकि वे लोक अदिव्य शक्तियों, वृत्रों तथा पणियों, अन्धकार तथा विभक्तता के पुत्रों से होनेवाली क्षतियों के लिये खुले होते हैं। ऋषि आगे चलकर अयास्य के उस कर्म के परिणाम को बताता है, जो कि पृथिवी और द्यौ के सत्य सनातन तथा एकीभूत रूप को खोलकर प्रकट कर देता है। "अयास्यने अपने स्तुतिमन्त्रों से सनातन और एक घोंसले में रहनेवाले दो को खोलकर उन के द्विविध रूपों (दिव्य तथा मानवीय ?) में प्रकट कर दिया, पूर्ण रूप से कार्यसिद्धि करते हुए उसने पृथिवी और द्यौ को (व्यक्त हुए पराचेतन के, 'परमं गुह्यम्' के) सर्वोच्च व्योम में थाम लिया, जैसे भोगी अपनी दो पत्नियों को ॐ।" आत्मिक जीवन के सनातन आह्लाद में भर कर आत्मा का अपनी दिव्य रूप में परिणत हुई मानसिक तथा शारीरिक सत्ता में रस लेने का इस से अधिक स्पष्ट और सुन्दर आलंकारिक वर्णन नहीं हो सकता था।

ये विचार और इस में आये कई वाक्यांश बिलकुल वैसे ही हैं जो गृत्समद के सूक्त में आते हैं। नोधा रात्रि और उषा के, काली भौतिक चेतना तथा चमकीली मानसिक चेतना के संबंध में कहता है कि वे फिर नवीन रूप में जन्म लेकर (पुनर्भवा) द्यौ और पृथिवी के इधर उधर अपनी स्वकीय गतियों से एक दूसरे के अन्दर चली जाती हैं, ❀ **स्वेभिरेवैः.... चरतो अन्यान्या**; सनातन

\+ स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो नवग्वैः।
सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः॥ (१।६२।४)

× गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
वि भूम्या अप्रथय इंद्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः। (१।६२।५)

ॐ द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः॥ (१।६२।७)

❀ सनाद् दिवं परि भूमा विरूपे पुनर्भवा युवती स्वेभिरेवैः।
कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या॥ (१।६२।८)

मित्रता में आवद्ध होकर जिस मित्रता को उन का पुत्र उच्च कार्यसिद्धि द्वारा करता है और वह उन्हें इस प्रकार थामता है।

सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः सूनुर्दाधार शवसा सुदंसाः ।। ९। नोधा के सूक्त की ही तरह गृत्समद के सूक्तमें भी अङ्गिरस सत्य की प्राप्ति के द्वारा और असत्य के अनुसंधान द्वारा '**स्वः**' को अधिगत करते हैं,- उस सत्य को अधिगत करते हैं जहां से वे मूलतः आये हैं और जो सभी दिव्य 'पुरुषों' का 'स्वकीय घर' है। 'वे जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं और पणियों की निधिको पा लेते हैं, उस परम निधि को जो गुहा में छिपी पडी थी; वे ज्ञान को अपने अन्दर रखते हुए और अनृतों को देखते हुए फिर उठकर वहां चले जाते हैं जहां से वे आये थे और उस लोक में प्रविष्ट हो जाते हैं। सत्यसे युक्त असत्यों पर दृष्टि डालते हुए वे द्रष्टा फिर उठकर महान् पथ में आ जाते हैं' ※ महस्पथः, सत्य का पथ या महान् विस्तृत लोक जो कि उपनिषदों का 'मह.' है।

अब हम वेद के इस रूपक की गुत्थी को सुलझाना आरम्भ करते हैं। बृहस्पति है सात किरणोंवाला विचारक, 'सप्तगुः,' 'सप्तरश्मिः' वह सात चेहरों या सात मुखोंवाला अंगिरस है, जो अनेक रूपों में पैदा हुआ है, 'सप्तास्यः तुविजातः,' नौ किरणोंवाला है, दस किरणोंवाला है। सात मुख सात अंगिरस् हैं, जो उस दिव्य शब्द (ब्रह्म) को दोहराते हैं, जो कि सत्य के स्थानसे, 'स्वः' से आता है और बृहस्पति जिस शब्द का स्वामी है, (ब्रह्मणस्पतिः)। साथ ही प्रत्येक मुख बृहस्पति की सात किरणों में से एक-एक का सूचक है, इसलिये वे सात द्रष्टा, 'सप्त विप्राः,' 'सप्त ऋषयः' हैं, जो ज्ञान की इन सात किरणों को पृथक् पृथक् शरीरधारी बना देते हैं। फिर ये सात किरणें सूर्य के सात चमकीले घोडे, 'सप्त-हरितः,' हैं और इन के आपस में मिलकर पूरा-पूरा एक हो जाने से अयास्य का सात सिरोंवाला विचार बन जाता है, जिस के द्वारा खोया हुआ सूर्य फिर से प्राप्त होता है।

फिर वह विचार सात नदियों में, सत्ता के (दिव्य और मानव) सात तत्त्वों में स्थापित किया जाता है, जिन की कि समष्टि (जोड) परिपूर्ण आत्मिक सत्ता का आधार बनती है। यदि हम अपनी सत्ता की इन सात नदियों को जीत लेते हैं जिन्हें वृत्रने रोक रखा है और इन सात किरणों को जीत लेते हैं, जिन्हें बलने रोका हुआ है, अपनी उस पूर्ण दिव्य चेतना को अधिगत कर लेते हैं, जो सत्य के स्वतन्त्र अवतरण के द्वारा सारे अनृत से मुक्त हो गई है, तो इस से 'स्वः' का लोक सुरक्षित रूप से हमारे अधिकार में हो जाता है और हमारी मानसिक तथा भौतिक सत्ता हमारे दिव्य तत्त्वों के अन्तःप्रवाह द्वारा अन्धकार असत्य व मृत्यु से ऊपर उठकर दिव्य सत्ता में परिणत हो जाती है और हमें उस से मिलनेवाला आनन्द उपलब्ध हो जाता है।

यह विजय ऊर्ध्वयात्रा के बारह काल-विभागों में समाप्त होती है, इन बारह काल-विभागों का प्रतिनिधित्व करनेवाले यज्ञिय वर्ष के बारह महीने हैं; यह एक एक काल-विभाग एक के बाद एक सत्य की अधिकाधिक बृहत् उषा को लाता हुआ आता है, तब तक जब तक कि दसवें में पहुंच कर विजय सुरक्षित तौर से नहीं हो जाती। नौ किरणों का और दस किरणों का बिलकुल ठीक ठीक अभिप्राय क्या हो सकता है, यह अपेक्षाकृत अधिक कठिन प्रश्न है और अब तक हम इस स्थिति में नहीं हैं कि, इसे हल कर सकें; पर अभी तक जो प्रकाश हमें मिल चुका है, वह भी ऋग्वेद के इस संपूर्ण रूपक के प्रधान भाग को प्रकाशित कर देने के लिए पर्याप्त है।

वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि, मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है। प्राचीन रहस्यवादी अपने सूक्तों का विषय मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को बनाते थे, पर उन के अपने लिये वे मूर्त रूप में आ जावें और जो अपात्र हैं, उन से इन का रहस्य छिपा रहे, इन दोनों उद्देश्यों से वे इसे कवितामय अलंकारों में चित्रित करते थे और उन अलंकारों को वे अपने

※ अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्।
ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन् तदुदीयुराविशम्॥
ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आतस्थुः कवयो महस्पथः। (२।२४।६-७)

युग के बाह्य जीवन में से लिया करते थे। वह जीवन मुख्यतया पशुपालकों और कृषकों का जीवन था, क्योंकि उस समय का जनसमुदाय युद्धों के कारण और जातियों के एक स्थान से उठकर अपने राजाओं के नीचे दूसरे स्थान पर जाते रहने के कारण बदलता रहता था। और इस सारी क्रिया में यज्ञ के द्वारा देवताओं की पूजा सब से अधिक गंभीर और उज्ज्वल वस्तु हो गई थी, शेष सब क्रियाएं इसी में आकर इकट्ठी हो गई थीं।

क्योंकि यज्ञ के द्वारा वर्षा होती थी, जिस से भूमि उपजाऊ बनती थी, यज्ञद्वारा पशुओं के रेवड और घोडे मिलते थे, जिन का होना शान्तिकाल में और युद्ध में आवश्यक था, सोना मिलता था, भूमि (क्षेत्र) मिलती थी, नौकर-चाकर मिलते थे, वीर योद्धा लोग मिलते थे जो महत्ता और प्रभुता को कायम करते थे, रण में विजय मिलती थी, स्थल-यात्रा और जल-यात्रा में सुरक्षा मिलती थी, जो यात्रा उस जमाने में बडी मुश्किल और खतरनाक होती थी, क्योंकि आवागमन के साधन बहुत कम थे और अन्तर्जातीय संगठन बडा ढीला था। इस बाह्य जीवन के सारे मुख्य मुख्य रूपों को जो उन्हें अपने चारों ओर दिखाई देते थे, रहस्यवादी कवियोंने ले लिया और उन्हें आन्तरिक जीवन के सार्थक अलंकारों में परिणत कर दिया।

मनुष्य के जीवन को इस रूप में रखा गया है कि, वह देवों प्रति एक यज्ञ है, या इस रूप में कहा गया है कि, वह एक यात्रा है और इस यात्रा को कहीं खतरनाक जलों को पार करने के अलंकार से प्रकट किया गया है और कहीं इस रूप से कि, वह जीवन की पहाडी के एक स्तर से दूसरे स्तर पर आरोहण करना है, और इस मनुष्य जीवन को तीसरे इस तरह प्रकट किया गया है कि, वह शत्रु-राष्ट्रों के विरुद्ध एक संग्राम है। पर इन तीनों अलंकारों को जुदा जुदा नहीं रखा गया है। यज्ञ भी एक यात्रा है; सचमुच यज्ञ को स्वयं इस रूप में वर्णित किया गया है कि, वह दिव्य लक्ष्य की ओर चलना है, यात्रा करना है; इस यात्रा तथा इस यज्ञ दोनों को लगातार यह कहा गया है कि, ये अन्धकारमयी शक्तियों के विरुद्ध एक संग्राम है।

अंगिरसों के कथानक में वैदिक रूपक के ये तीनों प्रधान रूप आ गये हैं और आकर इकट्ठे जुड गये हैं। अंगिरस 'प्रकाश' के यात्री हैं। 'नक्षन्तः' और 'अभि-नक्षन्तः' ये दोनों उन की विशेष स्वाभाविक क्रिया को वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त किये गये हैं। वे वो हैं जो लक्ष्य की ओर यात्रा करते हैं और सर्वोच्च लक्ष्य को पा लेते हैं।

अभि नक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं परमम्।
(२.२४.६)

उनकी क्रिया का इसलिये आवाहन किया गया है कि वह मनुष्य के जीवन को उसके लक्ष्य की ओर और अधिक आगे ले चले।

सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः। (३.५३.७)

पर यह यात्रा भी, यदि मुख्यतः यह एक खोज है, छिपे हुए प्रकाश की खोज है, तो अन्धकार की शक्तियों के विरोधके द्वारा एक साहस-कार्य और एक संग्राम बन जाती है। अंगिरस इस संग्राम के वीर और योद्धा हैं, '**गोषु योधाः**'। इन्द्र उन के साथ प्रयाण करता है, उनके इस रूप में कि, वे पथ के यात्री हैं, '**सरण्युभिः**', इस रूप में कि वे सखा हैं, '**सखिभिः**', इस रूप में कि, वे द्रष्टा हैं और पवित्र गान के गायक हैं, '**ऋक्वभिः**', '**कविभिः**', पर साथ ही इस रूप में कि, वे संग्राम के योद्धा हैं, '**सत्वभिः**'। जब इन अंगिरसों के बारे में कुछ कहना होता है, तो इन्हें प्रायः 'नृ' या 'वीर' नाम से याद किया जाता है, जैसे इन्द्र के लिये कहा है कि, उसने जगमगाती हुई गौओं को '**अस्माकेभिः नृभिः**', "हमारे नरों के द्वारा" जीता।

उनकी सहायता से शक्तिशाली बन कर इन्द्र यात्रा में विजय पाता है और लक्ष्य तक पहुंचता है, '**नक्षद् दाभं ततुरिम्**'। पर यह यात्रा या प्रयाण उस मार्ग पर होता है जिस मार्ग को स्वर्ग की कुतिया सरमाने खोज कर पाया है, जो सत्य का मार्ग है, 'ऋतस्य पन्थाः', जो वह महान् पथ, 'महस्पथः' है, जो सत्य के लोकों की ओर ले जाता है। अर्थात् साथ ही यह यात्रा यज्ञिय यात्रा है, क्योंकि इस यात्रा की मंजिलें वैसी ही हैं जैसी नवग्वाओं के यज्ञ के कालविभाग हैं; और यह यात्रा यज्ञ की तरहही सोमरस तथा पवित्र शब्द की शक्ति से संपन्न होती है।

शक्ति, विजय और सिद्धि के लिये साधन-रूप से सोम-रस का पान करना वेद के व्यापक अलंकारों में से एक है। इन्द्र और अश्विन अव्वल दर्जे के सोमपायी हैं, पर वैसे सभी देवता इस के अमरत्व प्रदान करनेवाले घूंट में हिस्सा लेते हैं। अंगिरस भी सोम की शक्ति में भर कर विजयी होते हैं। सरमा पणियों को भय दिखाती है कि देखो, अयास्य और नवग्वा अंगिरस अपने सोम-जनित आनन्द की तीक्ष्ण तीव्रता से युक्त होकर आयेंगे।

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः। (१०।१०८।८)

यह वह महती शक्ति है, जिससे मनुष्यों में सत्य के मार्ग का अनुसरण करने का बल आ जाता है। "सोम के उस आनन्द को हम चाहते हैं, जिस से, ओ इन्द्र! तूने 'स्वः' की शक्ति को (या स्वः की आत्मा को, स्वर्णरम्) समृद्ध किया है, दस किरणोंवाले और ज्ञान का प्रकाश देनेवाले (दशग्वं वेपयन्तम्) उस आनन्द को जिस से तूने समुद्र को पोषित किया है; उस सोम के मद को जिस के द्वारा तू महान् जलों (सात नदियों) को रथों की तरह आगे हांककर समुद्र में पहुंचा देता है- उसे हम चाहते हैं, इसलिये कि हम सत्यके मार्ग पर यात्रा कर सकें।" + **पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे।** यह सोम की शक्ति में आकर ही होता है कि, पहाडी टूट कर खुल जाती है, अन्धकार के पुञ्ज पराजित हो जाते हैं।

यह सोम-रस वह माधुर्य है, जो ऊपर के गुह्य लोक की धाराओं में से बह कर आता है, यह वह है जो सात नदियों में प्रवाहित होता है, यह वह है जिस के साथ होने पर घृत, रहस्यमय यज्ञ का घी, सहज प्रेरणा बन आता है, यह वह मधुमय लहर है, जो जीवन-समुद्र से उठती है। ऐसे अलंकारों का केवल एक ही अर्थ हो सकता है; यह (सोम) दिव्य आनन्द है, जो सारी सत्ता में छिपा हुआ है, जो यदि एक बार अभिव्यक्त हो जाये, तो यह जीवन की सब ऊंची, उत्कृष्ट क्रियाओं को सहारा देता रहता है और यह वह शक्ति है, जो अन्त में मर्त्य को अमर कर देती है, यह 'अमृतम्' है, देवों का अमृत है।

पर वह वस्तु जो अंगिरसों के पास रहती है मुख्यतः शब्द है, उनका द्रष्टा (ऋषि) होना उनका सबसे अधिक विशिष्ट स्वरूप है। वे हैं—

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः.... ऋतावृधः (६.७५.१०)

अर्थात् वे पितर हैं जो सोम से भरपूर हैं और जिनके पास शब्द है और इसी कारण जो सत्य को बढानेवाले हैं। इन्द्र उन्हें (अंगिरसों को) मार्गपर प्रेरित करने की इच्छा रखता हुआ उन के गा कर व्यक्त किये गये विचारों के साथ अपने आप को जोडता है और उनकी आत्मा के शब्दों को पूर्णता व शक्ति देता है।

सो अंगिरसामुचथा जुजुष्वान् ब्रह्मा तूतोदिन्द्रो गातुमिष्णन्। (२.२०.५)

जब इन्द्र अङ्गिरसोंकी सहायतासे ज्योति में और विचार की शक्तिमें समृद्ध हो जाता है तभी वह अपनी विजय यात्रा को पूर्ण कर पाता है और पर्वत पर रखे हुए अपने लक्ष्य तक पहुंच पाता है, 'उस में हमारे पूर्व पितर, सात द्रष्टा, नवग्वा, अपनी समृद्धि को बढाते हैं, उसे बढाते हैं जो अपने प्रयाण में विजयी होनेवाला है, जो विघ्न-बाधाओं को तोडफोड कर (अपने लक्ष्य तक) तैर जाता है, पर्वत पर खडा हुआ है, जिस की वाणी अहिंसित है, जो अपने विचारों से सब से अधिक ज्योतिष्मान् और बलवान् है।'

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः। नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥

यह 'ऋक्' के, प्रकाश के मन्त्र के गान से होता है कि, वे हमारी सत्ता की गुहा में छिपी हुई सौर ज्योतियों को पा लेते हैं. **अर्चन्तो गा अविन्दन्।** यह 'स्तुभ' से, सात द्रष्टाओं के मन्त्रों के आधारभूत छन्द से, नवग्वाओं के कम्पन करते हुए स्वर से होता है कि, इन्द्र 'स्वः' की शक्तिसे परिपूर्ण हो जाता है, 'स्वरेण स्वर्यः' और दशग्वाओं की आवाज से, 'रव' से होता है कि, वह 'बल' के टुकडे टुकडे कर डालता है (१.६२.४)

\+ येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे।
येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः। पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे॥ (८।१२।२,३)

क्योंकि यह ' रव ' उच्चतर लोक की आवाज है, वह वज्र-निर्घोष है जो इन्द्र की विद्युत्प्रभा में होता है, अङ्गिरसों की जो अपने मार्ग पर प्रगति है वह इस लोकों के ' रव ' की अग्रगामिनी होती है।

प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षंत प्रक्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु (७।४२।१)

बृहस्पति की आवाज द्यौ की गर्जना है, जो बृहस्पति वह अंगिरस है, जो सूर्य को, उषा को, गौ को और शब्द के प्रकाशको खोज लेता है, ' **बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः** । ' यह सत्य-मंत्र का, उस सत्य विचार का जो कि सत्य के छन्द में प्रकट होता है, परिणाम है कि छिपी हुई ज्योति मिल जाती है और उषा का जन्म हो जाता है।

गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमंत्रा अजनयन्नुषासम् । (७।७६।४)

क्योंकि वे अंगिरस हैं जो यथातथ वचन बोलते हैं,

इत्था वदद्भिः अंगिरोभिः । (६।१८।५)

ऋक् के स्वामी हैं, जो पूर्ण रूप से अपने विचारों को रखते हैं।

स्वाधीभिर्ऋक्वभिः । (६।३२।२)

वे द्यौ के पुत्र हैं, शक्तिशाली देव के वीर सिपाही हैं, जो सत्य कथन करते हैं और सरलता का विचार करते हैं और इस कारण जो इस योग्य हैं कि जगमगाते हुए ज्ञान के स्थान को धारण कर सकें और यज्ञ के अत्युच्च धाम को मनोगत कर सकें।

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः। विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ (१०-६७-२)

यह असंभव है कि ये सब इस प्रकार के वर्णन केवल यही अर्थ देनेवाले हों कि कुछ आर्य ऋषिओंने एक देवता और उस के कुत्ते का अनुसरण कर के गुफा में रहनेवाले द्राविडियों से चुराई हुई गौएं फिर प्राप्त कर लीं या रात्रि के अन्धकार के बाद उषा का फिर उदय हो गया। उत्तरी ध्रुव की उषा की अद्भुततायें भी स्वयं इन का कुछ स्पष्टीकरण देने में सर्वथा अपर्याप्त हैं। इन अलंकारों में जो साहचर्य है, इन में जो **शब्द** (ब्रह्म), **विचार** (धी.), सत्य, यात्रा और असत्य पर विजय पा लेना आदि का जो विचार है– जो विचार कि हमें इन सूक्तों में सर्वत्र मिलता है और जिस पर इन सूक्तों में लगातार जोर दिया गया है– उस का स्पष्टीकरण इस तरह किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता है।

केवल वह ही कल्पना है जिसे कि हम प्रतिपादित कर रहे हैं, जो इस बहुविध रूपक को खोल सकती है, इसे में एकता स्थापित कर सकती है और यह जो एक असंगतियों का मिश्रणसा दिखाई देता है, उस में आसानी से दीख जानेवाली स्पष्टता और संगति को ला सकती है और यह एक ऐसी कल्पना है जो कहीं बाहर से नहीं लाई गई है, बल्कि खुद मन्त्रों की ही भाषा तथा निर्देशों से सीधी निकलती है। सचमुच, यदि एक बार हम केंद्रभूत विचार को पकड लें और वैदिक ऋषियों की मनोवृत्ति तथा उन के प्रतीकवाद के नियम को समझ लें तो कोई भी असंगति और अव्यवस्था शेष नहीं रहती। वेद में प्रतीकों की एक नियत पद्धति है, जिस में कि सिवाय बाद के कुछ-एक सूक्तों के कहीं कोई महत्त्वपूर्ण फेरफार होना सम्भव नहीं हुआ है और जिस के प्रकाश में वेद का आन्तरिक अभिप्राय सब जगह अपने आप को इस तरह तुरंत प्रकट कर देता है, मानो वह इस के लिये तैयार ही हो। अवश्य ही वेद में भी प्रतीकों के परस्पर मिलाकर संगति बैठाने में कुछ सीमित स्वतन्त्रता है, जैसे कि किसी भी नियत कवितामय रूपक में होती है,– उदाहरण के लिये जैसे वैष्णवों की धार्मिक कवितायें हैं; पर इस के पीछे जो सारभूत विचार है, वह सदा स्थिर तथा संगत है और परिवर्तित नहीं होता है।

वीरभद्र का राज्यशासन ।

(१०) ×

शान्ति और क्रूरता ।

'वीरभद्र' उसका नाम है, जो वीरों में सबसे अधिक जनता का कल्याण करता है। यह रुद्र का नाम है। रुद्र संहार की देवता है, पर यह संहार इसलिये किया जाता है कि जनता का अधिक से अधिक कल्याण हो। वीरभद्रका कार्य युद्ध करना है और दण्ड देना भी है। विशेषतः वध-दण्ड देना इसका कार्य है। ये सब रुद्र के कर्तव्य हैं। ये कर्तव्य बडे भयानक हैं, इसलिये रुद्रका रूप बडा भयानक वर्णन किया है। वधकर्ता में कठोरता होना स्वाभाविक है। पर इस रुद्रदेवता के दो स्वरूप हैं। एक क्रूर और दूसरा शान्त। यह जो वध करता है, वह रक्तपिपासा से नहीं, अपितु जनता का अधिक से अधिक हित करने के लिये करता है। इसके अन्तर्याम में दया और कोमलता है, मृदुता भी है। यह इस देवता की विशेषता है।

पूर्व लेख में रुद्रदेवता के अनेक रूपों का वर्णन करके बताया है कि, सब प्राणियोंके रूपों में रुद्रदेवताही विचर रही है। जितने प्राणी हैं, वे सबके सब रुद्रदेवता के रूप हैं। जो प्राणी आप के सम्मुख आ जाय, आप निश्चित रूप से समझ लें कि, वह रुद्र का स्वरूप है। यह उपदेश गत लेखमें यजुर्वेदके १६ वें अध्यायके प्रमाणसे बताया है।

उसी अध्यायके वर्णन में एक बात छिपी हुई है, जो इस लेख में प्रकट करनी है। वह है '**रुद्रके द्वारा प्रवर्तित गणराज्य का शासन**'। रुद्रदेवताद्वारा एक प्रकार का गणराज्यशासन प्रवर्तित हुआ है, जो इस लेख में बताना है। आप यहां ऐसी आशंका प्रकट करेंगे कि, यह लेखमाला '**सर्वैक्यवाद**' के प्रतिपादन करने के लिये लिखी जा रही है, इस में राज्यशासन का क्या संबंध है? यह पाठकों की आशंका ठीक है, पर सर्वैक्यवादका तात्पर्य जो इस समय तक के लेखोंद्वारा प्रकट हुआ है, वह यह है कि, सब स्थावर और जंगम विश्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दीखनेवाला और सब के द्वारा सेवा करनेयोग्य रूप है। यदि यह सत्य है, तब तो राज्ययन्त्र के कर्मचारी गण भी परमात्मा के ही रूप हुए, इस में सन्देह नहीं हो सकता।

स्थावर-जंगम में राज्ययन्त्रके कर्मचारी, राजा, मन्त्री, नाना प्रकारके ओहदेदार, प्रजाजन, सैनिक, योद्धा, क्षत्रिय, स्त्रियां, बालक, वृद्ध, तरुण, पशुपक्षी आदि सब आते हैं, जो परमात्मा के ही रूप हैं। यही तो सर्वैक्यवादद्वारा बताया जा रहा है। इसलिये परमेश्वर के रूप में राज्ययंत्र का अन्तर्भाव होना स्वाभाविक है। सब राज्य-यन्त्र ईश्वर का स्वरूप है। इस विषय में इस यजुर्वेद के रुद्राध्यायद्वारा जो गूढ उपदेश दिया है, वह इस लेख में प्रकट करना है।

रुद्रदेवता संहार की देवता है, पर वह संहार जनता की भलाई करने के उद्देश से होता है। इसलिये यह रुद्र-देवता संघटना का कार्य भी करती है। इस देवताद्वारा जो संहार होता है, वह संघटना के लिये ही होता है। इस लिये रुद्रदेवता संघटना के लिये सहायक देवता है, यह बात यहां भूलनी नहीं चाहिये।

रुद्रदेवता ईश्वर का ही रूप है। ईश्वर संहारकारी है, वैसा रचनाकारी भी है। इसलिये जन्म और मृत्यु ये दोनों उसी के रूप हैं। इसलिये संहार से घबराना योग्य नहीं है। जंगल तोडने के बाद उस लकडी से घर बनते हैं, अर्थात् वृक्षों का तोडना घरों के बनानेका सहायक है। इसी तरह संहार आगामी रचनाके लिये आवश्यक ही है।

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥

(वा० य० १६।४९)

जिघांसद्भ्यः ॥ २१ ॥ क्षयणाय च ॥ ४३ ॥

(वा० य० १६)

× इस लेखमाला का नवम लेख 'वैदिक धर्म' क्रमाङ्क २८१ में पृ० १०९ पर '**रुद्रदेवता का स्वरूप**' नाम से छपा है।

रुद्रकी दो तनु हैं। एक 'घोरा' तनु और दूसरी 'शिवा' तनु। रुद्र का घोर कर्म करनेवाला एक शरीर है और कल्याणकारक कर्म करनेवाला दूसरा शरीर है। इसीलिये इस रुद्र को जैसे 'शिव' कहते हैं, वैसे ही 'क्रूर' भी कहते हैं। अस्तु, इस से ज्ञात हो सकता है कि, इस देवताके मिष से जैसे विघटना के, तोडने के कार्यों का विधान है, वैसे ही संघटना के, संगठन के कार्यों का भी उल्लेख है। शत्रु के साथ लडना और उस का नाश करना, इसका एक विघटनाका कार्य है और राष्ट्रकी संघटना करना इस का दूसरा संघटनाका कार्य है। यह दूसरा कार्य इस लेख में बताना है।

वा० यजु के अ० १६, मं० २५ में "**नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमः, नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमः**" कहा है। यह गणपति-संस्था की महत्त्व की बात है। गणपति के सहस्रनामों में '**गण, गणेश, गणपति, गणमण्डल, गणमण्डलाध्यक्ष, महा-गणपति**' आदि पद हैं। ये भी यहां देखने आवश्यक हैं। यही गणपति-संस्था रुद्र की शासनसंस्था में प्रधान कार्य करनेवाली संस्था है। गण और व्रात ये दो इन के संघटना के मूल भाग हैं।

गण और व्रात।

'व्रत' पालन करनेवालों के संघ का नाम 'व्रात' है और जो केवल एकत्र गिनाये गये हैं, उन का नाम 'गण' हैं। 'गण् संख्याने' धातु से 'गण' शब्द बनता है, अतः इस का अर्थ जितकी संख्या निश्चित की गयी है, जो गिने हैं, जिनकी गणना की गयी है, ऐसा होता है और एक व्रतसे, एक नियमसे, एक उद्देश्य तथा ध्येय के कारण जो इकट्ठे कार्य कर रहे हैं, वे 'व्रात' हैं। तीसरा एक संघटना बतानेवाला पद इस रुद्राध्याय में है, वह है '**पुञ्जिष्ठ**' अर्थात् पुञ्ज करके रहनेवाले, अनेक लोग मिलकर अपना जमाव बनाकर रहनेवाले। 'पुञ्ज' का अर्थ एकत्र मिलकर रहना है। रुद्रसंघटना के ये तीन भेद हैं।

वेदमें '**संभूति**' शब्द (वा. य. अ. ४०।९-११ में) आया है। कारीगरों की संघटना (व्यवसाय करनेवाली मंडली= 'कंपनी') के अर्थ में यह पद है। '**संभूति, संभवन, संभूय समुत्थान**' आदि अनेक पद मिलकर व्यवसाय करने के अर्थ में भारतीय अर्थशास्त्र में प्रचलित हुए हैं। अनेक लोगोंने मिलकर बहुत धन इकट्ठा करके बडा व्यापारव्यवहार करने के अर्थ में ये पद प्राचीन काल से प्रयुक्त होते हैं। स्मृतियों और अर्थशास्त्र में इस तरह की संघटना के विषय में विस्तारपूर्वक उल्लेख हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में उक्त '**संभूति, संभव**' ये पद मानवों के सांघिक जीवनविषयक व्यवहार के लिये आये हैं। पर रुद्राध्याय में इस पदका प्रयोग नहीं है, इसलिये हम इस लेख में इस पदका विचार नहीं करेंगे।

गण, व्रात और पुञ्ज ये तीन पद रुद्र की संघटना के लिये इस रुद्राध्याय में प्रयुक्त हुए हैं, इसलिये इनका विचार हम इस लेख में करेंगे।

१ 'गण' पदसे 'गणना किये गये, गिने हुए लोग,'
२ 'व्रात' पद से 'एक व्रत का पालन करनेवाले लोग,' और—
३ 'पुञ्ज' पद से 'एक जाति के लोग' बोधित होते हैं।

जनगणना करने की बात 'गण' पद से बोधित होती है। रुद्र की शासनसंस्था में जनों की गणना की जाती थी, यह इस से सूचित होता है। बिना गणना किये 'गण' बन ही नहीं सकते। इसलिये जहां गणों का राज्य होता है, वहां जनगणना अवश्य होती है। महादेव के भूतगण प्रसिद्ध हैं। इन भूतगणों में जन-गणना की जाती थी। ये ही गण रुद्रशासन में प्रमुख घटक माने गये हैं।

एक नियम का पालन करनेवाले, एक कार्य करनेवाले, एक उद्देश्य से संघटित हुए, एक ध्येय को माननेवाले जो लोग होंगे, उनके समूहका नाम 'व्रात' है। कर्मव्यव-साय से, व्यापारव्यवहार से वे व्रातआत्मक संघ निर्माण होते हैं। सैनिकों के समूहों के भी ये नाम सत्सूक्तों में प्रसिद्ध हैं। एक ही उद्देश्य से एक ही कर्म में लगने के कारण इन में सांघिक बल बढा चढा रहता है।

पूर्वोक्त रुद्रसूक्त में '**गण, गणपति, व्रात, व्रातपति**' ऐसे पद आये हैं। अर्थात् इन संघों का एक अध्यक्ष भी रहता है। इस अध्यक्ष का कार्य अपने संघ का हित करना होता है। (आजकल Union, Guild आदि श्रमजीवी

लोगों के संघ और उनके अध्यक्ष रहते हैं, वैसे ही यहां ये दीखते हैं।)

इससे पूर्व कहा है, 'गण, गणमण्डल, गणमहामण्डल' ऐसे संघों के छोटे और मोटे संघ हुआ करते हैं, इसी तरह 'गणेश, गणपति, गणमण्डलेश, गणमहामण्डलाधिपति, महागणपति' आदि नाम गणपतिसहस्रनामों में संघाधिपतियों के दिये हैं। इससे इनके कर्तव्यों का ज्ञान हो सकता है और ये संघ अपने संघ में रहनेवाले लोगों के लिये क्या कार्य करते हैं, इसका भी ज्ञान इन नामों के मनन से हो सकता है।

'पुञ्ज' के लिये 'पुञ्जपति' नहीं है। 'पुञ्जिष्ठ' पद ही है। अर्थात् इस नामके संघमें कोई अध्यक्ष नहीं होता था। ये संघके सभी सदस्य मिलकर अपना प्रबंध किया करते थे।

पुंज के सदस्य इकट्ठे होते हैं और वे सबके सब अपना संघ का हित या प्रबंध करने के लिये जो कुछ करना होगा, वह कर लेते हैं। इनके नाम से यह सिद्ध होता है कि, ये संघशासक हैं। इन संघशासकों में कोई एक मुखिया नहीं होता। अतः ये पूरे पूरे 'समाजशासक' होते हैं। इस पुंजव्यवस्था से गण और व्रात की व्यवस्थामें कुछ भिन्नता है। पाठक इस भेद को ध्यान में अवश्य धारण करें। पुंज का जाति के साथ संबंध है और ऐसा जातीय समाजशासन इस भरतखण्ड में कई जातियों में प्राचीन काल से इस समय तक प्रचलित है।

ये गण और व्रात संघ कार्य, व्यवहार, धंदा, उद्योग, सिद्धान्त या ध्येय के साथ संबंधित हैं। पुंज के समान जाति के या कुल के साथ संबंधित नहीं हैं। इसीलिये गण और व्रातके पूर्व दूसरे व्यवसायों का वाचक कोई पद अवश्य रखना चाहिये, तब इस व्यवस्था की कल्पना ठीक तरह ध्यानमें आ सकती है। वा० यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में ऐसे अनेक धंदों के पद हैं, उनको इस के साथ जोड दें, देखिये इससे ये संघ सिद्ध होते हैं—

धंदा	संघ
भिषक् [वैद्य]	भिषग्गण [वैद्यों का संघ]
वणिक् [वैश्य]	वणिग्गण [व्यापारियों का संघ]
क्षत्ता [बढई]	क्षत्तृगण [बढइयों का संघ]
तक्षा [तखाण]	तक्षगण [तखाणों का संघ]
रथकार [रथ बनानेवाला]	रथकारगण [गाडी बनानेवालों का संघ]
कुलाल [कुम्हार]	कुलालगण [कुम्हारों का संघ]

इस तरह कार्यव्यवहार करनेवाले धन्देवालों के गण होते थे और शर्तें लगाकर, नियम बांधकर, एक ध्येय से प्रेरित होकर जो संघ बनते थे, वे 'व्रात' कहलाते थे। उतने नियमों का, उतनी शर्तों का ही बन्धन उन व्रातनामक संघवालोंपर रहता था। व्रात संघ के सदस्य अन्य व्यवहार के लिये स्वतंत्र समझे जाते थे। 'गण' व्यवस्था में हरएक सदस्यपर अन्य सदस्यों के हिताहितकी जिम्मेवारी पूर्णतया रहती थी, पर 'व्रात' व्यवस्थामें उतने निश्चित व्रत की मर्यादा तक की ही यह जिम्मेवारी रहती थी। गणमें उत्तरदायित्व अधिक और व्रातमें नियमानुकूल मर्यादित रहता था। इस कारण गण में प्रविष्ट होनेवालों को लाभ भी अधिक होते थे और व्रातमें उसकी अपेक्षा से लाभ भी कम होते थे।

गणपतिसहस्रनामों का विचार करने से पता चलता है कि, गणसंस्थामें संमिलित होनेवाले सदस्यों का हित करने का पूर्णतासे उत्तरदायित्व गण के अधिष्ठाता पर रहता था। इसलिये गणेश अर्थात् गण के अधिष्ठाता को तथा गणपति अर्थात् गण के पालनकर्ता को गण के प्रत्येक सदस्य के हित की सब जिम्मेवारी उठानी पडती थी। अर्थात् गणमें प्रविष्ट सदस्य बीमार हुआ, युद्ध में जखमी हुआ, किसी अन्य आपत्ति में फँसा, तो ऐसी सब आपत्तियों का निवारण करने के लिये सुप्रबन्ध करने का कार्य गणपति को करना पडता था। यह भाव निम्नलिखित नामों से ज्ञात होता है— " **गणभीतिहर, गणदुःखप्रणाशन, गणभीत्यपहारक, गणसौख्यप्रद, गणाभीष्टकर, गणरक्षणकर्ता,** ऐसे अनेक नाम हैं, जो बताते हैं कि गणों का सब प्रकार से हित करने के लिये गणों के अध्यक्ष को अनेक प्रकार का योग्य प्रबंध करना पडता था।

'व्रात' के विषय में जिम्मेवारी थोडी होती है। जिस नियम या शर्तसे वह व्रात संघटित होता था, उतना ही उत्तरदायित्व संघाधिपतिपर रहता था। अन्य बातों के विषयमें उस को देखने की आवश्यकता नहीं होती थी।

गण-व्यवस्था में छोटी मोटी कई संस्थाएं थीं, जो निय-

लिखित नामों से ज्ञात हो सकती हैं- ' गणप, गणवर, गणेश, गणपति, गणाधीश, गणाग्रणी, गणाध्यक्ष, गणेश्वर, गणेकराट्, गणाधिराज, गणनायक, गणमण्डलाध्यक्ष ' ये पद एक अर्थ के वाचक नहीं हैं । प्रत्येक पद में अधिकार का भेद है और तद्नुसार छोटे या बडे संघ का भी वह सूचक है ।

गणमण्डलाध्यक्ष वह है, जो अनेक गणों के संघों का अध्यक्ष होता है । गणनायक वह है, जो गणोंको चलानेवाला है । गणप वह है कि जो गणों का पालन करता है । ये सब पद गणशासन की प्रणाली बताते हैं । इन सब का विचार करने से इस शासनसम्बन्धी सब बातों का पता लग सकता है, पर हमें इस लेख में गणपतिसंस्था का पूर्ण विचार करना नहीं है, प्रत्युत रुद्रशासनसंस्था का विचार करना है । इस के अन्तर्गत गणपति पद होने से गणपतिसंस्था का थोडासा विचार करना आवश्यक हुआ है, अतः अतिसंक्षेप से यह विचार यहां किया है ।

अपना प्रकृत विषय ठीक तरह समझ में आने के लिये यजुर्वेद अ. १६ में आये गण और गणपति का थोडासा अधिक विचार करना आवश्यक है । विचार करने के लिये मान लीजिये कि, एक **'रथकार-गण'** है, अर्थात् गाडियाँ बनानेवालों का एक संघ रुद्रके अधिराज्य में स्थापन किया है । इस का एक अध्यक्ष होगा, जिस का नाम **'रथकार-गणेश'** होगा । इस अध्यक्ष का प्रथम कर्तव्य है अपने संघ में स्थित सदस्यों की गणना करना, एक पुस्तकमें अपने सदस्यों के नाम, स्थान तथा उनकी आवश्यकताओं का लेख तैयार करके सुरक्षित रखना । अपने गण को अर्थात् संघसदस्य को कार्य न होगा, तो उस को कार्य देना, भोजन का प्रबंध न होगा तो करना, बीमार होनेपर दवा का प्रबंध करना, अर्थात् काम लेना और उस के बदले दाम देना अथवा सुखसाधन देना । इतने वर्णनसे पाठकों के मन में यह बात आयी होगी कि, यह गणव्यवस्था कैसी होनी चाहिये ।

' गण-आर्ति-हर ' यह नाम इस प्रबंध की सुव्यवस्था का सूचक है । गणव्यवस्थामें आये सदस्यों की हर-प्रकार की आपत्तियों को दूर करना गणनायक का कर्तव्य होता है और वह उस को करना ही पडता है । सदस्य कर्म करने के जिम्मेवार हैं, शेष जिम्मेवारी नायकपर रहती है ।

पाठक ऐसी कल्पना करें कि, इस **रथकार-गण** में १०० सदस्य होंगे, तो उन को उन के करनेयोग्य काम देना, उन से काम करवा लेना और उन को सुखसाधन समय पर देना, यह इस गणसंस्था में अध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य है । ऐसा प्रबन्ध करने के लिये देशभर कैसी सुव्यवस्था रखना आवश्यक है, इस का विचार पाठक कर सकते हैं । यह रथकार-संघ के विषय में हुआ ।

इस के पश्चात् ऐसे अनेक गणों का **' गण-मण्डल '** होता है । जिस में एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उपकारक गणों का परस्पर सम्मेलन होता है और अनेक ' गणमण्डलों ' का मिलकर एक ' महागणमण्डल ' हुआ करता है । हम पूर्वोक्त रुद्राध्यायमें देखेंगे कि, गण-मण्डल में रथकार-गण के साथ कौन से अन्य गण संमिलित हो सकते हैं । हमारे विचार से निम्नलिखित कारीगरों का गणमण्डल रथकार-गण के साथ बन सकता है- (क्षत्तृगण) बढइयों का संघ, (तक्षगण) तर्खाणों का संघ, (कर्मारगण) लुहारों का संघ, ये और ऐसे एक दूसरेके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक कारीगरों के गणों का मिलकर यह गणमण्डल होगा ।

इस गणमण्डल का एक अध्यक्ष होगा । उसका कर्तव्य सब गणों का हित करना होगा । इस तरह सदस्यों का गण, गणों का गणमण्डल और गणमण्डलों का महागण-मण्डल होता है । ऐसा संघों का यह जाला देशभर फैला रहता है । यह है गणशासन की आयोजना ।

रुद्रसूक्त में (गत लेख में) जो नाम गिनाये हैं, उन में जो कार्यव्यवहार के वाचक नाम हैं, उन सब के ऐसे गण हैं, ऐसा समझकर इस रुद्रशासनप्रणाली का विचार करना चाहिये । तब वैदिक गणशासन का महत्त्व ध्यान में आ सकता है । यहां प्रत्येक के संघ का स्वतन्त्र विचार करके लेख को व्यर्थ बढाने की आवश्यकता नहीं है । रुद्र की शासनव्यवस्था की कल्पना ही यहां पाठकों को देना है । ऊपर दिये वर्णन से वह व्यवस्था पाठकों के मन में आ गयी होगी । इस तरह ब्राह्मणोंके में कई गण अथवा संघ, क्षत्रियों में अनेक गण अथवा संघ, इसी तरह

वैश्य और शूद्रों में भी कार्यव्यवहार तथा व्यवसाय के गण बनाने से यह रुद्रशासनप्रणाली परिपूर्ण होती है।

राष्ट्र में कोई मनुष्य गणव्यवस्था से बाहर नहीं रहने पाय, जिसके कर्म और व्यवहार की गणना नहीं हुई, ऐसा भी कोई मनुष्य रहना नहीं चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को उसके करने के लिये सुयोग्य कार्य मिलना चाहिये और उस कर्म के बदले उसको कर्मफलस्वरूप आवश्यक सुखसाधन प्राप्त होने चाहिये। यह इस गणव्यवस्था का मूल सूत्र है।

प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्म उत्तम कुशलता के साथ समाप्त करना चाहिये, कर्म के फलस्वरूप सुखसाधन देना इस शासनसंस्था की जिम्मेवारी है। कर्म करनेपर हरएक को आवश्यक सुखसाधन मिलने ही चाहिये। आवश्यक सुखसाधनों में रहने के लिये सुयोग्य स्थान, भोजन के लिये योग्य और आवश्यक अन्न, पीने के लिये उत्तम जल, ओढने के लिये आवश्यक वस्त्र, बीमारी की निवृत्ति के लिये चिकित्सा के साधन, धर्मसंस्कार समय पर होनेकी व्यवस्था, विद्या की पढाई की व्यवस्था और आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक गुरूपदेश आदिका समावेश होना स्वाभाविक है। जो सदस्य उत्तम धर्मानुकूल रहेंगे, उनका इस व्यवस्था से कल्याण होगा। पर जो नियमभंग करेंगे, उनको कठोर दण्ड देना भी इस रुद्रशासन के प्रबंधद्वारा ही होता रहता है। उसमें क्षमा नहीं होगी।

रुद्रसूक्त में जो नाम कार्यव्यवहार करनेवालोंके गिनाये हैं, उतने ही कार्यव्यवहार करनेवाले हैं, ऐसी बात नहीं हैं। किसी देशविशेष में इससे न्यून वा अधिक भी कार्यव्यवहारवाले लोग हो सकते हैं। वहां के अनुसार न्यून वा अधिक गणों की व्यवस्था होगी। उस रुद्राध्याय के वर्णन में इस राष्ट्रीय शासनव्यवस्था का पता लगाने के लिये केवल सूचनामात्र उल्लेख है। उस अध्याय में 'गण, गणपति,' तथा 'व्रात, व्रातपति' ऐसे नाम लिखकर इस गणशासन के व्यवहार की सूचना दी है। परन्तु प्रत्येक धंदेवाले के साथ 'गण' शब्द उस अध्याय में लगाया नहीं है। वह सब धंदेवाले नामों के साथ लगाकर इस शासन की कल्पना पाठकों को करनी चाहिये, इसीलिये यह लेख लिखा है।

उक्त अध्याय में कई पद सर्वसामान्य भाव बतानेवाले हैं, जैसा देखिये- (**उपवीती**) यज्ञोपवीतधारी, (**उष्णीषी**) पगडीधारी, (**कपर्दी**) शिखाधारी, (**व्युप्तकेश**) जिस के बाल कटे हैं। ये पद सामान्य हैं। प्रत्येक वर्णके लोगों को ये पद लगाये जा सकते हैं। 'उपवीती' पद तीन वर्णों के लिये प्रयुक्त हो सकता है, शेष तीनों पद सब मानवोंके लिये प्रयुक्त हो सकते हैं।

इसी तरह (स्वपत्) सोनेवाला, (जाग्रत्) जागनेवाला, (शयानः) लेटनेवाला, (आसीनः) बैठनेवाला आदि पद सर्वसामान्य मानवों के लिये अथवा प्राणियों के लिये लगाये जा सकते हैं। तथा (महान्) बडा, (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ, (प्रथम) पहिला, (कनिष्ठ) छोटा आदि पद भी सामान्य पद हैं, जो हरएक प्राणी के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। ऐसे सामान्य पद इस अध्याय में कौनसे हैं, इन का पता पाठकों को उक्त पदों का अर्थ देखने से लग सकता है। ऐसे सर्वसामान्य पद छोडने चाहिये, और शेष पदों में जो पद कामधंदे के सूचक, व्यापारव्यवहार के सूचक तथा विशेष उद्यम के सूचक हैं, उनके साथ ही यह 'गण' पद अथवा 'व्रात' पद लग सकता है। ये '**गण, व्रात** और **पुञ्ज**' पद सब व्यवसायों के साथ लगनेवाले पद हैं। उदाहरण के लिये हम कुछ ऐसे गण बता देते हैं—

ब्राह्मणवर्ण में- **गृत्सगण** (कवियोंका संघ), **श्रुतगण** (श्रुतिशास्त्रज्ञों का संघ), **अधिवक्तृगण** (उपदेशक संघ), **भिषग्गण** (वैद्यों का संघ), इ. इ.

क्षत्रियवर्ण में- **क्षेत्रपतिगण** (खेतोंके मालिकों का संघ), **रथीगण** (रथियोंका संघ), **स्वायुधगण** (उत्तम हथियार चलानेवालों का संघ), **दूरेवधगण** (दूर से वध करनेवालों का संघ), इ. इ.

वैश्यवर्णमें- **वणिग्गण** (व्यापारियोंका संघ), **संग्रहीतृ-गण** (बडे बडे संग्रह [Store] करनेवालोंका संघ), **पशुपतिगण** (पशुपालकों का संघ), इ. इ.

शूद्रवर्ण में- **रथकारगण** (गाडी बनानेवालों का संघ), **इषुकृद्गण** (बाण बनानेवालों का संघ), **कुलालगण** (कुम्हारों का संघ), **निषादगण** (निषादों का संघ) इ. इ.

इस तरह इस रुद्राध्याय का विचार करके जितने धंदे वाले यहां हैं और जितने कल्पना में आ सकते हैं, उतनों के संघों की अर्थात् उतने गणोंकी अथवा व्रातोंकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। इस तरह गणों की स्थापना के पश्चात् अनेक परस्पर सहायक गणों का मिलकर एक गण-मण्डल बनने की भी कल्पना पाठक करें। प्रत्येक गण का एक अध्यक्ष तथा गणमण्डल का प्रमुख बनाने का भी विचार इसी तरह हो सकता है। इस संस्था के अध्यक्ष वा प्रमुख का कर्तव्य पूर्व स्थान में बताया ही है। गणके सब सदस्यों का ठीक तरह योगक्षेम चलाना संघप्रमुखों का कर्तव्य है। कर्म कुशलतासे करना संघस्थों का कर्तव्य है। इस तरह विचार करने से निःसन्देह पता लग सकता है कि, यह गणशासन की आयोजना अत्यंत उत्तम है और बड़ी सुखदायी भी है।

इसमें कर्मकर्ताओं को चिंता नहीं है, प्रमुखों को ही चिंता रहती है। कर्मकर्ताको इतनी ही चिंता रहती है कि, अपनी कारीगरी की अत्यधिक उन्नति करना। योगक्षेम गणव्यवस्थाके प्रबंधद्वारा सबका यथायोग्य होता रहता है।

शिक्षाका प्रबंध ब्राह्मणों के द्वारा बिनामूल्य होता रहता है। रक्षाका प्रबंध क्षत्रिय करते रहते हैं। इसी तरह वैश्य-शूद्रों के व्यवसायों का प्रबंध होता रहता है। और सब मानवों का योगक्षेम चलता है।

'गणनायक' का कार्य गण के सदस्यों को चलाना है। यहां नायक का अर्थ अधिपति नहीं है, परन्तु नेता अर्थात् चालक है। आज क्या कर्तव्य करना चाहिये, इस विषय की योग्य संमति अपने सदस्यों को देकर जो अपने संघ से उत्तमोत्तम कार्य कराता रहता है, वही गणनायक होता है। गण का ईश, गण का पालक, गण का अधिपति, गण का नायक ये सब विभिन्न कर्तव्य बतानेवाले पद हैं। इनके विभिन्न कर्तव्य अच्छी तरह समझनेसे ही गणशासन का उपयोगित्व ठीक तरह ध्यान में आ सकता है।

गण का अधिष्ठाता जानता है कि, अपने संघ में कितने कर्मकर्ता हैं, किसको किस वस्तु की जरूरत है, उस की आवश्यकता की पूर्तता किस तरह करनी चाहिये, अपने संघ में कौन बीमार है, किस वैद्य से उसकी चिकित्सा करनी योग्य है, आदि का विचार गण का अधिष्ठाता करता रहता है। गणमण्डल के अन्दर अनेक संघ संमिलित रहते हैं, उनके धंदों का परस्पर संबंध रहता है और वे धंदे एक दूसरे के सहाय्यकारी रहते हैं। इसलिये गणमण्डल की सुव्यवस्था से सब गणों का सुख बढता जाता है।

गणमण्डलों के मुख्य महागणमण्डलाध्यक्ष के पास सभी प्रकार की व्यवस्था रहती है। सारे कारीगरों के सब पदार्थ उसके कार्यालयमें जमा होते हैं और आवश्यकताके अनुसार वह पदार्थों का लेनदेन करता है। अनावश्यक वस्तुओं के निर्माण पर वह प्रतिबंध रखता है, और आव-श्यक वस्तुओं के निर्माण की प्रेरणा करता है। एक बार इस तरह की सुव्यवस्था की कल्पना पाठकों के मनमें उतर गयी, तो वे ही इस सब व्यवस्था के विषय में उत्तम कल्पना अपने मन में कर सकते हैं। इस दृष्टि से यह वा० यजुर्वेद का १६ वाँ अध्याय विशेष अध्ययनीय है। साथ ही साथ वा० यजुर्वेद का ३० वाँ अध्याय भी मननपूर्वक अध्ययन करनेयोग्य है। १६ वाँ अध्याय रुद्रदेवताके रूप बताने के लिये है और ३० वाँ अध्याय नारायण पुरुष के रूप बताने के लिये है। पर तत्त्वदृष्टि से दोनों का आशय एक ही है।

यह गणशासनव्यवस्था वेद की आदर्श शासनव्यवस्था है। इस से प्रजा का हित अधिक से अधिक हो सकता है। प्रजा का सुख अधिक से अधिक करने के लिये इसी मार्ग से जाना चाहिये। इस में शासकों की व्यवस्था इस तरह रहती है-

१. रुद्र= (महारुद्र, महादेव) = सर्वाधिपति।
२. मंत्री = मन्त्री, सलाहकार।
३. सभा, सभापति = राष्ट्रसभा, राष्ट्रसभापति, ग्रामसभा, प्रांतसमिति, आमंत्रण (मन्त्रीमंडल)।
४. गण, गणपति = गणोंकी नाना प्रकार के संघोंकी व्यवस्था।
५. व्रात, व्रातपति = नाना प्रकार व्रतनिष्ठ संघों की व्यवस्था।
६. पुरिष्ठ = मानवपुओं की व्यवस्था।

यह व्यवस्था पूर्व स्थान में बतायी है। गण, महागण, गणमण्डल आदि बडे चडे संघों में से राष्ट्रसभा के सदस्य

चुने जाते हैं और इस तरह राज्य का नियंत्रण होता रहता है और वहां प्रत्यक्ष जनताके साथ रातदिन रहनेवाले और जनता की स्थिति देखनेवाले ही लोग आते हैं। इसलिये उन का शासन जनहित का साधक होता है।

इस के साथ साथ निम्नलिखित कार्यकर्ता भी होते हैं-

७. क्षेत्रपतिः = खेतों की रक्षा करनेवाले,

८. वनपतिः = वनों की पालना करनेवाले,

९. स्थपतिः = स्थानों के पालनकर्ता,

१०. कक्षाणां पतिः = राष्ट्र की कक्षा चारों ओर की परिधी होती है, वहाँ की सुरक्षा करने के लिये जो नियुक्त होते हैं, वे कक्षापति कहलाते हैं, गुप्त स्थानों के रक्षक।

११. पत्तीनां पतिः = पैदल विभाग के नेता,

१२. सेना, सेनापतिः = सब प्रकार की सेना और उस के अधिपति,

१३. सेनानी = सेना का संचालन करनेवाले,

१४. आव्याधिनीनां पतिः = हमला करनेवाली सेना के नेता।

इस तरह सेना की व्यवस्था इस रुद्रशासन में रहती है। इस रुद्राध्याय में सैनिकों के नाम बड़े विस्तारपूर्वक दिये हैं। पाठक उन सब को यहां रखकर उन का कार्य राष्ट्ररक्षा में कितना है, इस का यथायोग्य विचार करें, उन सबको यहां फिरसे लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१५. वास्तुपः = घरों की रक्षाके लिये नियुक्त पहरेदार,

१६. वास्तव्यः = लोग जहां रहते हैं, वहां रहनेवाला,

१७. गह्वरेष्ठः = गिरिकंदरों की रक्षाके लिये नियुक्त,

१८. नादेयः, तीर्थ्यः = नदी, तैरकर पार होनेके स्थान-पर रक्षा के लिये तथा सहाय-तार्थ नियुक्त,

१९. नक्तंचरः = रात्री के समय घूमकर रक्षा करने में नियुक्त।

इस तरह अनेकानेक पदोंसे पाठक योग्य बोध प्राप्त कर सकते हैं और रुद्र की शासनव्यवस्थाका पता भी इस से लगा सकते हैं।

यहां पाठक देखें की रुद्राध्याय (वा. यजु. अ. १६) के विशेष सूक्ष्म रीति के इस अध्ययन से एक विशेष प्रकार की गणशासन की प्रणाली का बोध यहां हमें मिला है। यह वैदिक व्यवस्था है और प्रत्येक प्रजाजनका इससे लाभ हो सकता है। इस विषय में विस्तारपूर्वक बहुत कुछ स्पष्टीकरण करना आवश्यक है, परन्तु वैसा करने के लिये हमारे पास यहां स्थान नहीं है।

एक रुद्रके अनेक रूप हैं।

एक ही रुद्र के ये सब मानवी रूप हैं। गण, गणपति ये दोनों रुद्र के रूप हैं। मन्त्री और राजा, सेना और सेनापति, क्षेत्र और क्षेत्रपति, वणिक् और ग्राहक, शिष्य और गुरु ये सब रुद्र के रूप हैं। कोई मनुष्य, कोई प्राणी अथवा कोई वस्तु रुद्रका रूप नहीं, ऐसी वस्तु यहां नहीं है।

यहां राजा भी ईश्वर का रूप है और प्रजा भी। दोनों मिलकर एक ईश्वरके दो रूप हैं। राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, मालिक-मजदूर, धनी-सेवक, ज्ञानी-अज्ञानी ये सब ईश्वरके ही रूप हैं, अतः ये परस्पर की सेवा करनेयोग्य हैं। एक सत्ता के ये अंश हैं। अतः सब की मिलकर एक ही सत्ता माननी चाहिये। यहां किसी की भी विभिन्न सत्ता नहीं है। हम सब एक ही जीवन के अंश हैं, यह जानकर परस्पर के सहायक व्यवहार हम सबको करने चाहिये।

जिस तरह एक शरीर में सिर, आंख, नाक, कान, मुख, जिह्वा, दांत, होंट, गाल, बाहु, अंगुलियां, हात, पेट, पांव आदि अनेक अवयव एकही जीवनके अवयव हैं, और पूर्णतया परस्पर सहायता करना इनका कर्तव्य है। सब का मिलकर एक जीवन है; यह जानना, मानना और उस एक जीवन के हितके लिये अपना समर्पण करना प्रत्येक अवयव का कर्तव्य है, उसी तरह सब मानव एक ही जीवन के अंश हैं, यह जानना, मानना और उस अखंड, अटूट, अनन्य एक जीवन का अत्यधिक हित करने के लिये अपने जीवन को लगाना, अर्थात् पूर्ण की सेवा के लिये अंशने अपना अर्पण करना आवश्यक है।

जो लोग शंका करते हैं कि सदैक्यवादसे राष्ट्रीय शासन

किस तरह होगा, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र की उन्नति तथा राष्ट्रीय संघटना किस तरह होगी, इस शंका का उत्तर इस लेख में दिया गया है। वेदने जनता की उन्नति के लिये '**सर्वैक्यवाद**' दिया और इस वाद से सिद्ध होनेवाला राष्ट्रीय संघटनाका आदर्श भी मानवोंके सम्मुख गणव्यवस्था-द्वारा रख दिया। सर्वैक्यवादसे अनन्यभावकी सिद्धता होती है और सब प्राणियों का मिलकर एक अखण्ड और अटूट जीवन है, इसके विषय में निश्चय होता है। इस निश्चय के पश्चात् व्यक्ति व्यक्ति की, संघ संघ की तथा जाति जाति की सेवा में लगकर, परस्पर सेवाशुश्रूषा से जो सब की उन्नति होती है, उस उन्नति की आयोजना की कल्पना इस गणसंस्था से पाठकों के मन में स्थिर हो सकती है। इस तरह सर्वैक्यवाद से राष्ट्रोन्नति सिद्ध होती है और इस से मानवता का भी पूर्ण विकास हो सकता है।

इस रुद्राध्याय में सब प्राणी रुद्रके रूप हैं, ऐसा कह-कर संघटना का वैदिक संदेश दिया है। अन्य स्थानों में पुरुष, नारायण, आत्मा, ब्रह्म आदि के सब रूप हैं, ऐसा बता कर वही संदेश दिया है। सर्वैक्यवाद का तत्त्व यह है कि, सबके रूप भिन्न होने पर भी सब की सत्ता तत्त्वतः एक मानना। यहां तत्त्वतः भिन्न अनेक सत्ताएं नहीं हैं। इस सर्वैक्यवाद के सिद्धान्त को व्यवहार में लानेके लिये छोटे छोटे गणों में यह तत्त्व प्रथम आचरणद्वारा तथा परस्पर सेवाद्वारा सिद्ध करना चाहिये। पश्चात् गणों के, संघोंके और राष्ट्रके व्यवहार में लाना चाहिये और अन्त में मानवों के व्यवहार में लाना योग्य है। इसका मार्ग जो वेद ने बताया है, वह यह है। इसका विचार पाठक करें और सर्वैक्यवाद को व्यवहार में लानेके विषय में सोचें। वेद के सिद्धान्त व्यवहार में लाने के लिये ही हैं, केवल चर्चा के लिये वेद नहीं है।

इस गणव्यवस्था में सुविधा यह है कि, इसका प्रारंभ अल्प संस्था में भी किया जा सकता है। एक गणमें संमि-लित मानवोंको परस्पर सहायताद्वारा ईश्वरसेवा करने का संकल्प करना चाहिये। इस तरह सर्वैक्यवाद का आचरण अल्प प्रमाण में भी शुरू हो सकता है।

ऐ कस्वरा धीळय कन्दाऽश्वाश्चित् स्वधामिषिरां पर्य-
पश्यन् ॥ ९ ॥

भुवन आप्त्यः, साधनो वा भौवनः । विश्वेदेवाः ।
द्विपदा त्रिष्टुप् (ऋ.१०।१५७।५)

प्रत्यञ्चमर्कमनयञ्छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यप-
श्यन् ॥ ५ ॥

अगस्त्यो मैत्रावरुणिः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. १।१६८।१०)
[१९२] एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य
मान्यस्य कारोः ।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीर-
दानुम् ॥१०॥
[१७२] एष वः .. जीरदानुम् । (ऋ.१।१६६।१५)
[१८१] एष वः ... जीरदानुम् । (ऋ १।१६७।११)
अगस्त्यो मैत्रावरुणिः । मरुत्वानिन्द्रः । त्रिष्टुप्
एष वः ... जीरदानुम् ॥१५॥ (ऋ. १।१६५।१५)

गृत्समदः (आङ्गिरसः शौनहोत्रः पश्चाद् भार्गवः)
शौनकः । मरुतः । जगती (ऋ. २।३०।११)
[१९८] तं वः शर्धं मारुतं सुम्नयुर्गिरोप ब्रुवे नमसा दैव्यं
जनम् ।
यथा रयिं सर्ववीरं नशामहा अपत्यसाचं श्रुत्यं दिवे दिवे ॥११॥
श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । ककुप् (ऋ. ५।५३।१०)
तं वः शर्धं रथानां त्वेषं गणं मारुतं नव्यसीनाम् ।
अनु प्र यन्ति वृष्टयः ॥१०॥

गृत्समदः (आङ्गिरसः शौनहोत्रः पश्चाद् भार्गवः)
शौनकः । मरुतः । जगती (ऋ. २।३४।८)
[२०२] वृषे ता विश्वा भुवना ववक्षिरे मित्राय वा सदमा
जीरदानवः । पृषदश्वासो अनवभ्रराधस ऋजिप्यासो
न वयुनेषु धूर्षदः ॥४॥
गाथिनो विश्वामित्रः । मरुतः । जगती (ऋ. ३।२६।६)
[२१६] व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिरग्नेर्भामं मरुतामोज
ईमहे ।
पृषदश्वासो अनवभ्रराधसो गन्तारो यज्ञं विदथेषु
धीराः ॥६॥

गाथिनो विश्वामित्रः । मरुतः । जगती (ऋ ३।२६।६)
[२१६] व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिरग्नेर्भामं मरुतामोज
ईमहे । पृषदश्वासो अनवभ्रराधसो गन्तारो यज्ञं
विदथेषु धीराः ॥६॥
गृत्समदः (आङ्गिरसः शौनहोत्रः पश्चाद् भार्गवः)
शौनकः । मरुतः । जगती (ऋ २।३४।४)
[२०२] वृषे ता विश्वा भुवना ववक्षिरे मित्राय वा सदमा
जीरदानवः । पृषदश्वासो अनवभ्रराधस ऋजिप्यासो
न वयुनेषु धूर्षदः ॥४॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुत. । अनुष्टुप् (ऋ.५।५२।४)
[२३०] मरुत्सु वो दधीमहि स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया ।
विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषः ॥४॥
भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । अग्निः । गायत्री (ऋ. ६।१६।२२)
प्र वः सखायो अग्नये स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया ।
अर्च गाय च वेधसे ॥२२॥
श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । ककुप् (ऋ.५।५३।१०)
[१९३] तं वः शर्धं रथानां त्वेषं गणं मारुतं नव्यसी-
नाम् ।
अनु प्र यन्ति वृष्टयः ॥१०॥ (ऋ. ५।५८।१)
[१९१] तमु नूनं तविषीमन्तमेषां स्तुषे गणं मारुतं नव्य-
सीनाम् ।
य आश्वश्वा अमवद् वहन्त उतेशिरे अमृतस्य स्वराजः ॥१॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । सतोबृहती (ऋ.५।५३।१६)
[१९१] स्तुहि भोजान्त्स्तुवतो अस्य यामनि रणन् गावो
न यवसे ।
यतः पूर्वाँ इव सखीँरनु ह्वय गिरा गृणीहि कामिनः ॥१६॥
विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा, वसुकृद्वा वासुक ।
सोमः । आस्तारपङ्क्ति. (ऋ.१०।२५।१)
भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे
रणन् गावो न यवसे विवक्षसे ॥१॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । जगती (ऋ. ५।५४।११)
[१६०] अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे
शुभः । अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः
शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ॥११॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ.८।७।२५)

विद्युद्धस्ता अभिद्यवः **शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः ।**
शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये ॥२५॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । जगती (ऋ.५।५५।१)

[२६५] प्रयज्यवो मरुतो भ्राजदृष्टयो बृहद्वयो दधिरे रुक्मवक्षसः ।
ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः **शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥१॥

[२६६] स्वयं दधिध्वे...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥२॥

[२६७] साकं जाताः...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥३॥

[२६८] आभूषेण्यं वो...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥४॥

[२६९] उदीरयथा मरुतः...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥५॥

[२७०] यदश्वान् धूर्षु...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥६॥

[२७१] न पर्वता न नद्यो ...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥७॥

[२७२] यत् पूर्व्यं...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥८॥

[२७३] मृळत नो...
......**शुभं यातामनु रथा अवृत्सत** ॥९॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । जगती (ऋ. ५।५५।३)

[२६७] साकं जाताः सुभ्वः साकमुक्षिताः श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः ।
विरोकिणः **सूर्यस्येव रश्मयः** शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ।

अरुणो वैतहव्यः । अग्निः । जगती (ऋ. १०।९१।४)

प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः ।
आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः **सूर्यस्येव रश्मयः** ॥४॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । जगती (ऋ. ५।५५।९)

[२७३] मृळत नो मरुतो मा वधिष्टनाऽस्मभ्यं **शर्म बहुलं** वि यन्तन ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥९॥

ऋजिश्वा भारद्वाजः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् (ऋ.६।५१।५)

द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः ।
विश्वे आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं **शर्म बहुलं वि यन्तन** ॥५॥

स्यूमरश्मिर्भार्गवः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ.१०।७८।८)

[५२२] सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नानस्मान्स्तोतॄन् मरुतो वावृधानाः ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति ॥८॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ.५।५५।१०)

[२७४] यूयमस्मान् नयत वस्यो अच्छा निरंहतिभ्यो मरुतो गृणानाः ।
जुषध्वं नो हव्यदातिं यजत्रा **वयं स्याम पतयो रयीणाम्** ॥१०॥

वामदेवो गौतमः । बृहस्पतिः । त्रिष्टुप् (ऋ.४।५०।६)

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो **वयं स्याम पतयो रयीणाम्** ॥६॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । बृहती (ऋ.५।५६।१)

[२७५] अग्ने शर्धन्तमा गणं पिष्टं रुक्मेभिरञ्जिभिः ।
विशो अद्य मरुतामव ह्वये **दिवश्चिद्रोचनादधि** ॥१॥

प्रस्कण्वः काण्वः । उषा । अनुष्टुप् (ऋ.१।४९।१)

उषो भद्रेभिरा गहि **दिवश्चिद्रोचनादधि ।**
वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम् ॥१॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । बृहती (ऋ.५।५६।४)

[२७८] नि ये रिणन्त्योजसा वृथा गावो न दुर्धुरः ।
अश्मानं चित् स्वर्यं पर्वतं गिरिं **प्र च्यावयन्ति यामभिः** ॥४॥

कण्वो घौरः । मरुतः । गायत्री (ऋ.१।३७।११)

[१६] त्यं चिद् घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम् ।
प्र च्यावयन्ति यामभिः ॥११॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । बृहती । (ऋ. ५।५६।६)

[२८०] युङ्ग्ध्वं ह्यरुषी रथे युङ्ग्ध्वं रथेषु रोहितः ।
युङ्ग्ध्वं हरी अजिरा धुरि वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे ॥६॥

मेधातिथिः काण्वः । विश्वे देवा (विश्वेदेवैः सहितोऽग्निः)।
गायत्री (ऋ. १।१४।१२)

युक्ष्वा ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः ।
ताभिर्देवाँ इहा वह ॥१२॥

परुच्छेपो दैवोदासिः । वायुः । अत्यष्टिः (ऋ. १।१३४।३)
वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुररुणा वायू रथे अजिरा धुरि
वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे ।
प्र बोधया पुरंधिं जार आ ससतीमिव ।
प्र चक्षय रोदसी वासयोषसः ॥३॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. ५।५७।७)

[१९०] गोमदश्वावद् रथवत् सुवीरं चन्द्रवत् राधो मरुतो ददा नः ।
प्रशस्तिं नः कृणुत रुद्रियासो भक्षीय वोऽवसो
दैव्यस्य ॥७॥

वामदेवो गौतमः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् (ऋ. ४।२१।१०)
एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः ।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो
दैव्यस्य ॥१०॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ.५।५७।८)

[१९१] हये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः ।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः ॥८॥

[१९२] हये नरो मरुतो ..
.. बृहदुक्षमाणाः ॥८॥

श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. ५।५८।१)

[१९३] तमु नूनं तविषीमन्तमेषां स्तुषे गणं मारुतं नव्यसीनाम् ।
य आश्वश्वा अमवद् वहन्त उतेशिरे अमृतस्य स्वराजः॥१

ककुप् (ऋ.५।५३।१०)

[१९४] तं वः शर्धं रथानां त्वेषं गणं मारुतं नव्यसीनाम् ।
अनु प्र यन्ति वृष्टयः ॥१०॥

एवयामरुदात्रेयः । मरुतः । अतिजगती (ऋ. ५।८७।२)

[१९५] प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयं प्र विद्मना ब्रुवत
एवयामरुत् ।
क्रत्वा तद् वो मरुतो नाधृषे शवो दाना मह्ना तदेषामधृष्टासो नाद्रयः ॥२॥

सोभरिः काण्वः । मरुतः । सतो विराट् (ऋ. ८।२०।१४)

[१९५] तान् वन्दस्व मरुतस्ताँ उपस्तुहि तेषां हि धुनीनाम् ।
अराणां न चरमस्तदेषां दाना मह्ना तदेषाम् ॥१४॥

एवयामरुत् आत्रेयः । मरुतः । अतिजगती (ऋ. ५।८७।५)

[३२१] स्वनो न वोऽमवान् रेजयद्वृषा त्वेषो ययिस्तविष
एवयामरुत् ।
येना सहन्त ऋञ्जत स्वरोचिषः स्थारश्मानो हिरण्ययाः
स्वायुधास इष्मिणः ॥५॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मरुतः । द्विपदा विराट् (ऋ.७।५६।११)

[३५५] स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्का उत स्वयं तन्वः
शुम्भमानाः ॥११॥

बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. ६।६६।१)

[३३४] वपुर्नु तच्चिकितुषे चिदस्तु समानं नाम धेनु पत्यमानम् ।
मर्तेष्वन्यद् दोहसे पीपाय सकृच्छुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः॥१

वामदेवो गौतमः । अग्निः । त्रिष्टुप् (ऋ.४।३।१०)
ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन ।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः
॥१०॥

बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. ६।६६।८)

[३४१] नास्य वर्ता न तरुता न्वस्ति मरुतो यमवथ
वाजसातौ ।
तोके वा गोषु तनये यमप्सु स व्रजं दर्ता पार्ये अध
द्योः ॥८॥

कण्वो घौरः । ब्रह्मणस्पतिः । सतोबृहती (ऋ. १।४०।८)
उप क्षत्रं पृञ्चीत हन्ति राजभिर्भये चित् सुक्षितिं दधे ।
नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिणः॥८॥

लुशो धानाकः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् (ऋ.१०।३५।१४)
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं त्रायध्वे यं पिपृथात्यंहः ।
यो वो गोपीथे न भयस्य वेद ते स्याम देववीतये तुरासः
॥ १४ ॥

गयः प्लातः । विश्वे देवाः । जगती (ऋ. १०।६३।१४)
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥१४॥

भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् (ऋ. ६।२५।४)
शूरो वा शूरं वनते शरीरैस्तनूरुचा तरुषि यत् कृण्वैते ।
तोके वा गोषु तनये यदप्सु वि क्रन्दसी उर्वरासु
ब्रवैते ॥ ४ ॥

बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। मरुतः। त्रिष्टुप् (ऋ. ६।६६।११)

[२५३] तं वृधन्तं मारुतं भ्राजदृष्टिं रुद्रस्य सूनुं हवसा विवासे।
दिवः शर्धाय शुचयो मनीषा गिरयो नाप उग्रा अस्पृध्रन् ॥११॥

नोधा गौतमः। मरुतः। जगती (ऋ. १।६४।१२)

[२५४] घृषुं पावकं वनिनं विचर्षणिं रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि।
रजस्तुरं तवसं मारुतं गणमृजीषिणं वृषणं सश्चत श्रिये ॥१२॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मरुतः। द्विपदा विराट् (ऋ. ७।५६।११)

[२५५] **स्वायुधास इष्मिणः** सुनिष्का उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः ॥११॥

श्यावाश्व आत्रेयः। मरुतः। अति जगती (ऋ. ५।८७।५)

[२६१] स्वनो न वोऽमवान् रेजयद् वृषा त्वेषो ययिस्तविष एवयामरुत्।
येना सहन्त ऋञ्जत स्वरोचिषः स्थारश्मानो हिरण्ययाः **स्वायुधास इष्मिणः** ॥५॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मरुतः। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।५६।२३)

[२६७] भूरि चक्र मरुतः पित्र्याण्युक्थानि या वः शस्यन्ते पुरा चित्।
मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा **मरुद्भिरित् सनिता वाजमर्वा** ॥२३॥

शुनहोत्रो भारद्वाजः। इन्द्रः। त्रिष्टुप् (ऋ. ६।३३।२)

त्वां हीन्द्रावसे विवाचो हवन्ते चर्षणयः शूरसातौ।
त्वं विप्रेभिर्वि पणीँरशायस्त्वोत **इत् सनिता वाजमर्वा** ॥२॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मरुतः। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।५६।२५)

[२६९] **तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रोऽग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त।**
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥२५॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। विश्वे देवाः। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।३४।२५)

तन्न इन्द्रो ..

...सदा नः ॥२५॥

वसुकर्णो वासुक्रः। विश्वे देवाः। जगती (ऋ. १०।६६।९)

द्यावापृथिवी जनयन्नभि व्रताप **ओषधीर्वनिनानि** यज्ञिया।
अन्तरिक्षं स्वरा पप्रुरूतये वशं देवासस्तन्वी नि मामृजुः ॥९॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मरुतः। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।५७।४)

[२७४] ऋधक् सा वो मरुतो दिद्युदस्तु **यद् व आगः पुरुषता कराम।**
मा वस्तस्यामपि भूमा यजत्रा **अस्मे वो अस्तु सुमतिश्चनिष्ठा** ॥४॥

शङ्खो यामायनः। पितरः। त्रिष्टुप् (ऋ. १०।१५।६)

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो **यद् व आगः पुरुषता कराम** ॥६॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। अश्विनौ। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।७०।५)

शुश्रुवांसा चिदश्विना पुरूण्यभि ब्रह्माणि चक्षाथे ऋषीणाम्।
प्रति प्र यातं वरमा जनायास्मे **वामस्तु सुमतिश्चनिष्ठा** ॥५॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मरुतः। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।५७।७)

[२७६] आ स्तुतासो **मरुतो विश्व ऊती** अच्छा सूरीन्त्सर्वताता जिगात।
ये नस्त्मना शतिनो वर्धयन्ति यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

अत्रिर्भौमः। विश्वे देवाः। त्रिष्टुप् (ऋ. ५।४३।१०)

आ नामभिर्मरुतो वक्षि विश्वाना रूपेभिर्जातवेदो हुवानः।
यज्ञं गिरो जरितुः सुष्टुतिं च विश्वे गन्त **मरुतो विश्व ऊती** ॥१०॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मरुतः। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।५८।३)

[२७९] बृहद् वयो मघवद्भ्यो दधात जुजोषन्निन्मरुतः सुष्टुतिं नः।
गतो नाध्वा वि तिराति जन्तुं प्र णः **स्पार्हाभिरूतिभिस्तिरेत** ॥३॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। इन्द्रावरुणौ। त्रिष्टुप् (ऋ. ७।८४।३)

कृतं नो यज्ञं विदथेषु चारुं कृतं ब्रह्माणि सूरिषु प्रशस्ता।
उपो रयिर्देवजूतो न एतु प्र णः **स्पार्हाभिरूतिभिस्तिरेतम्** ॥३॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. ५।५८।६)

[३८२] प्र सा वाचि सुष्टुतिर्मघोनामिदं सूक्तं मरुतो जुषन्त ।
आराच्चिद् द्वेषो वृषणो **युयोत** यूयं पात स्वस्तिभिः
सदा नः ॥६॥

गर्गो भारद्वाजः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् (ऋ. ६।४७।१३)
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे **आराच्चिद् द्वेषः** सनुतर्**यु-
योतु** ॥१३॥

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मरुतः । सतोबृहती (ऋ.७।५९।२)

[३८४] **युष्माकं देवा अवसाहनि प्रिय** ईजानस्तरति
द्विषः ।
**प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय
दाशति** ॥ २ ॥

कुत्स आङ्गिरसः । ऋभवः । जगती (ऋ. १।११०।७)
ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयानृभुर्वाजेभिर्वसुभिर्वसुर्ददिः ।
युष्माकं देवा अवसाहनि प्रियेऽभि तिष्ठेम पृत्सुतीर-
सुन्वताम् ॥७॥

मनुर्वैवस्वतः । विश्वे देवाः । सतो बृहती (ऋ ८।२७।१६)
**प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय
दाशति ।**
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते ॥१६॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।१)

[४६] **प्र** यद् **वस्त्रिष्टुभं** मरुतो विप्रो अक्षरत् ।
वि पर्वतेषु राजथ ॥१॥

प्रियमेध आङ्गिरसः । इन्द्रः । अनुष्टुप् (ऋ. ८।६९।१)
प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दद्वीरायेन्दवे ।
धिया वो मेधसातये पुरंध्या विवासति ॥१॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।२)

[४७] **यदङ्ग तविषीयवो यामं शुभ्रा अचिध्वम् ।**
नि पर्वता अहासत ॥२॥

वत्सः काण्वः । इन्द्रः । गायत्री (ऋ. ८।६।२६)
यदङ्ग तविषीयस इन्द्र प्रराजसि क्षितीः ।
महाँ अपार ओजसा ॥२६॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।१४)

[५९] अधीव यद् गिरीणां **यामं शुभ्रा अचिध्वम् ।**
सुवानैर्मन्दध्व इन्दुभिः ॥१४॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।३)

[४८] उदीरयन्त वायुभिर्वाश्रासः पृश्निमातरः ।
धुक्षन्त पिप्युषीमिषम् ॥३॥

नारदः काण्वः । इन्द्रः । उष्णिक् (ऋ. ८।१३।२५)
वर्धस्वा सु पुरुष्टुत ऋषिष्टुताभिरूतिभिः ।
धुक्षस्व पिप्युषीमिषमवा च नः ॥२५॥

मातरिश्वा काण्वः । इन्द्रः । बृहती (ऋ.८।५४[वाल०६]।७)
सन्ति ह्यर्य आशिष इन्द्र आयुर्जनानाम् ।
अस्मान्नक्षस्व मघवन्नुपावसे **धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्** ॥७॥

अमहीयुराङ्गिरसः । पवमानः सोमः । गायत्री
(ऋ. ९।६१।१५)
अर्षाणः सोम शं गवे **धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्** ।
वर्धा समुद्रमुक्थ्यम् ॥१५॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः गायत्री (ऋ. ८।७।४)

[४९] वपन्ति मरुतो मिहं **प्र वेपयन्ति पर्वतान्** ।
यद् यामं यान्ति वायुभिः ॥४॥

कण्वो घौरः । मरुतः । बृहती (ऋ. १।३९।५)

[४०] **प्र वेपयन्ति पर्वतान्** वि विञ्चन्ति वनस्पतीन् ।
प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा ॥५॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।८)

[५३] सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे ।
ते भानुभिर्वि तस्थिरे ॥८॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।३६)

[८१] अग्निर्हि जानि पूर्व्यश्छन्दो न सूरो अर्चिषा ।
ते भानुभिर्वि तस्थिरे ॥३६॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ.८।७।१०)

[५५] त्रीणि सरांसि पृश्नयो **दुदुह्रे वज्रिणे मधु** ।
उत्सं कवन्धमुद्रिणम् ॥१०॥

प्रियमेध आङ्गिरसः । इन्द्रः । गायत्री (ऋ. ८।६९।६)
इन्द्राय गाव आशिरं **दुदुह्रे वज्रिणे मधु** ।
यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥६॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ.८।७।११)

[५६] मरुतो यद्ध वो दिवः सुम्नायन्तो हवामहे।
आ तू न उप गन्तन ॥११॥

कण्वो घौरः। मरुतः। गायत्री (ऋ. १।३७।१२)

[१७] मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन।
गिरीँरचुच्यवीतन ॥१२॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. ८।७।१२)

[५७] यूयं हि ष्ठा सुदानवो रुद्रा ऋभुक्षणो दमे।
उत प्रचेतसो मदे ॥१२॥

मेधातिथिः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. १।१५।२)

[५] मरुतः पिबत ऋतुना पोत्राद् यज्ञं पुनीतन।
यूयं हि ष्ठा सुदानवः ॥२॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ.८।७।१३

[५८] आ नो रयिं मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसम्।
इयर्ता मरुतो दिवः ॥१३॥

ब्रह्मातिथिः काण्वः। अश्विनौ। गायत्री (ऋ. ८।५।१५)

अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्रिणम्।
पुरुक्षुं विश्वधायसम् ॥१५॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ.८।७।१५)

[६०] एतावतश्चिदेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः।
अदाभ्यस्य मन्मभिः ॥१५॥

इरिम्बिठिः काण्वः। आदित्याः। उष्णिक् (ऋ.८।१८।१)

इदं ह नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः।
आदित्यानामपूर्व्यं सवीमनि ॥१॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. ८।७।२०)

[६५] क्व नूनं सुदानवो मदथा वृक्तबर्हिषः।
ब्रह्मा को वा सपर्यति ॥२०॥

प्रगाथः काण्वः। इन्द्रः। गायत्री (ऋ. ८।६४।७)

क्व स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥७॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. ८।७।२२)

[६७] समु त्ये महतीरपः सं क्षोणी समु सूर्यम्।
सं वज्रं पर्वशो दधुः ॥२२॥

आयुः काण्वः। इन्द्रः। सतोबृहती।
(ऋ. ८।५२[वाल.४]।१०)

समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम्।
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः ॥१०॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. ८।७।२३)

[६८] वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिनः।
चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् ॥२३॥

वत्सः काण्वः। इन्द्रः। गायत्री (ऋ. ८।६।१३)

यदस्य मन्युरध्वनीद्वि वृत्रं पर्वशो रुजन्।
अपः समुद्रमैरयत् ॥१३॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. ८।७।२५)

[७०] विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः।)
शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये ॥२५॥

श्यावाश्व आत्रेयः। मरुतः। जगती (ऋ. ५।५४।११)

[१६०] अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ॥११॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. ८।७।२६)

[७१] उशना यत् परावत उक्ष्णो रन्ध्रमयातन।
द्यौर्न चक्रदद्भिया ॥२६॥

परुच्छेपो दैवोदासिः। इन्द्रः। अत्यष्टिः (ऋ. १।१३०।९)

सूरश्चक्रं प्र वृहज्जात ओजसा प्रपित्वे वाचमरुणो मुषायतीशान आ मुषायति।
उशना यत् परावतोऽजगन्नूतये कवे।
सुम्नानि विश्वा मनुषेव तुर्वणिरहा विश्वेव तुर्वणिः ॥९॥

पुनर्वत्सः काण्वः। मरुतः। गायत्री (ऋ. ८।७।२८)

[७३] यदेषां पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहितः।
यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः ॥२८॥

काण्वो घौरः। मरुतः। बृहती (ऋ. १।३९।६)

[४१] उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः।
आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः ॥६॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।३१)

[७६] कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन ।
को वः सखित्व ओहते ॥३१॥

कण्वो घौरः । मरुतः । गायत्री (ऋ. १।३८।१)

[९१] कद्ध नूनं कधप्रियः पिता पुत्रं न हस्तयोः ।
दधिध्वे वृक्तबर्हिषः ॥१॥

पुनर्वत्सः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. ८।७।३५)

[८०] आश्वश्वावतो वहन्त्यन्तरिक्षेण पततः ।
धातारः स्तुवते वयः ॥३५॥

आजीगर्तिः शुनःशेपः स कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः ।
वरुणः । गायत्री (ऋ.१।२५।७)

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुद्रियः ॥७॥

सोभरिः काण्वः । मरुतः । ककुप् (ऋ. ८।२०।५)

[८६] अच्युता चिद् वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः ।
भूमिर्यामेषु रेजते ॥५॥

कण्वो घौरः । मरुतः । गायत्री (ऋ. १।३७।८)

[९१] येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वाँ इव विश्पतिः ।
भिया यामेषु रेजते ॥८॥

सोभरिः काण्वः । मरुतः । सतोबृहती (ऋ.८।२०।८)

[८९] गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये ।
गोबन्धवः सुजातास इषे भुजे महान्तो नः स्परसे नु ॥८

सोभरिः काण्वः । अश्विनौ । ककुप् (ऋ. ८।२२।९)

आ हि रुहतमश्विना रथे कोशे हिरण्यये वृषण्वसू ।
युञ्जाथां पीवरीरिषः ॥९॥

सोभरिः काण्वः । मरुतः । सतोबृहती
(ऋ. ८।२०।१४)

[९५] तान् वन्दस्व मरुतस्ताँ उप स्तुहि तेषां हि धुनीनाम् ।
अराणां न चरमस्तदेषां दाना मह्ना तदेषाम् ॥१४॥

एवयामरुदात्रेयः । मरुतः । अतिजगती (ऋ. ५।८७।२)

[११९] प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयं प्र विद्मना ब्रुवत
एवयामरुत् ।
क्रत्वा तद् वो मरुतो नाधृषे शवो दाना मह्ना तदेषा-
मधृष्टासो नाद्रयः ॥२॥

सोभरिः काण्वः । मरुतः । सतोबृहती (ऋ.८।२०।२६)

[१०७] विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि
वोचत ।
क्षमा रपो मरुत आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः
॥ २६ ॥

मत्स्यः साम्मदः, मान्यो मैत्रावरुणिः, बहवो वा मत्स्या
जालनद्धाः ।
आदित्याः । गायत्री (ऋ. ८।६७।६)

यद्वः श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति यच्छर्दिः ।
तेना नो अधि वोचत ॥६॥

मेधातिथि-मेध्यातिथी काण्वौ । इन्द्रः । बृहती
(ऋ. ८।१।१२)

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता सन्धिं मघवा पुरूवसुरिष्कर्ता विह्रुतं पुनः
॥१२॥

बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः । मरुतः । गायत्री
(ऋ. ८।९४।३)

[१९७] तत् सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति
कारवः ।
मरुतः सोमपीतये ॥३॥

शंयुर्बार्हस्पत्यः । मरुतः । अनुष्टुप् (ऋ. ६।४५।३३)

तत् सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः ।
बृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम् ॥३३॥

मेधातिथिः काण्वः । विश्वे देवाः । गायत्री (ऋ. १।२३।१०)

विश्वान् देवान् हवामहे मरुतः सोमपीतये ।
उग्रा हि पृश्निमातरः ॥१०॥

बिन्दुः पूतदक्षो आङ्गिरसः । मरुतः । गायत्री
(ऋ. ८।९४।९)

[४०३] आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचना दिवः ।
मरुतः सोमपीतये ॥९॥

बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः । मरुतः ।
गायत्री (ऋ. ८।९४।४)

[१९८] अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
उत स्वराजो अश्विना ॥४॥

अत्रिर्भौमः । इन्द्रः । उष्णिक् (ऋ. ५।४०।२)
वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा **सोमो अयं सुतः** ।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम ॥२॥

बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः । मरुतः ।
गायत्री (ऋ. ८।९४।८)
[४०१] कद्वो अद्य महानां देवानाम**वो वृणे** ।
त्मना च दस्मवर्चसाम् ॥८॥
श्यावाश्व आत्रेयः । इन्द्राग्नी । गायत्री (ऋ. ८।३८।१०)
आहं सरस्वतीवतोरिन्द्राग्न्योर**वो वृणे** ।
याभ्यां गायत्रमृच्यते ॥१०॥

बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः । मरुतः ।
गायत्री (ऋ. ८।९४।१०-१२)
[४०४] त्यान् नु पूतदक्षसो दिवो वो **मरुतो हुवे**।
अस्य सोमस्य पीतये ॥१०॥
[४०५] त्यान् नु ये वि रोदसी तस्तभुर्**मरुतो हुवे**
अस्य सोमस्य पीतये ॥११॥
[४०६] त्यं नु मारुतं गणं गिरिष्ठां वृषणं हुवे ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥१२॥
मेधातिथिः काण्वः । मरुतः । गायत्री (ऋ. १।२२।१)
प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम् ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥१॥
मेधातिथिः काण्वः । इन्द्रवायू । गायत्री (ऋ. १।२३।२)
उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥२॥
वामदेवो गौतमः । इन्द्राबृहस्पती ।
गायत्री (ऋ. ४।४९।५)
इन्द्राबृहस्पती वयं सुते गीर्भिर्हवामहे ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥५॥
भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । इन्द्राग्नी । अनुष्टुप् (ऋ.६।५९।१०)
इन्द्राग्नी उक्थवाहसा स्तोमेभिर्हवनश्रुता ।
विश्वाभिर्गीर्भिरा गत**मस्य सोमस्य पीतये** ॥१०॥
कुरुसुतिः काण्वः । इन्द्रः । गायत्री (ऋ. ८।७६।६)
इन्द्रं प्रत्नेन मन्मना मरुत्वन्तं हवामहे ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥६॥
बाहुवृक्त आत्रेयः । मित्रावरुणौ । गायत्री (ऋ. ५।७१।३)
उप नः सुतमा गतं वरुण मित्र दाशुषः ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥३॥

स्यूमरश्मिर्भार्गवः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. १०।७७।६)
[४१२] प्र यद् वहध्वे मरुतः पराकाद् यूयं महः संवरणस्य वस्वः ।
विदानासो वसवो राध्यस्याऽऽरा**च्चिद् द्वेषः सनुत-र्युयोत** ॥६॥
गर्गो भारद्वाजः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् (ऋ. ६।४७।१३)
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे **आराच्चिद् द्वेषः सनुत-र्युयोत** ॥१३॥

स्यूमरश्मिर्भार्गवः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ.१०।७७।८)
[४१४] ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा आदित्येन नाम्ना शंभविष्ठाः ।
ते नोऽवन्तु रथतूर्मनीषां महश्च यामन्नध्वरे चकानाः ॥८॥
वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् (ऋ.७।३९।४)
ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः
ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरंधिम् ॥४॥

स्यूमरश्मिर्भार्गवः । मरुतः । त्रिष्टुप् (ऋ. १०।७८।८)
[४२१] सुभागान्नो देवाः कृणुत सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन् मरुतो वावृधानाः ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति ॥८॥
श्यावाश्व आत्रेयः । मरुतः । जगती (ऋ. ५।५५।९)
[२७३] मृळत नो मरुतो मा वधिष्टनाऽस्मभ्यं बहुलं शर्म वि यन्तन ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥९॥

दैवत-संहितान्तर्गत

मरुद्देवताका मंत्र-संग्रह।

हिन्दी अनुवाद।

(टीका, टिप्पणी और स्पष्टीकरण के साथ)



लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

शके १८६५, संवत् २०००, सन १९४३

संपादक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक

पं० दयानन्द गणेश धारेश्वर, B. A.



मुद्रक व प्रकाशक

वसंत श्रीपाद सातवळेकर, B. A.

भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय-मंडळ,

औंध (जि० सातारा)

वीर मरुतोंका काव्य।

वीररसपूर्ण काव्यके मनन से उपलब्ध बोध।



हम पहले ही मरुत्-देवता के मन्त्रों का अन्वय, अर्थ और टिप्पणी यहाँपर दे चुके हैं। पदों के अर्थका विचार, सुभाषितों का निर्देश एवं पुनरुक्त मन्त्रों का समन्वय भी ध्यानपूर्वक हो चुका है। अब हमें संक्षेप में देखना है कि इन सब का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर लेनेसे हमें कौनसा बोध मिल सकता है। इस मरुत्-काव्य में अन्य काव्योंकी अपेक्षा जो एक अनूठी विभिन्नता दीख पडती है, वह यों है कि इस काव्य में-

महिलाओंका वर्णन नहीं पाया जाता है।

किसी भी वीर-गाथा में नारियों का उल्लेख एक न एक ढंग से अवश्य ही उपलब्ध होता है। पंचमहाकाव्य या अन्य काव्यों का निरीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि उन में वीरों के वर्णन के साथ ही साथ उनकी प्रेयसियों का बखान अवश्य ही किया है। स्त्रियों का वर्णन न किया हो ऐसा शायद एक भी वीर-काव्य नहीं पाया जाता है। यदि इस नियम का कोई अपवाद भी हो, तो उससे इस नियमकी ही सिद्धता होती है, ऐसा कहना पडेगा। लगभग २७ ऋषियोंने इस मरुद्देवता-विषयक काव्य का सृजन किया है ऐसा ज्ञान पडता है (देखो पृष्ठ १९४); और अगर इस संख्या में सप्तर्षियों का भी अन्तर्भाव किया जाय तो समूचे ऋषियों की संख्या ३४ हो जाती है। यह बडे ही आश्चर्य की बात है कि इतने इन ३४ ऋषियों के निर्मित काव्य में एक भी जगह मरुतों के स्त्रैणत्व का निर्देश नहीं किया है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि ऋषि स्त्रैणत्व का वर्णन ही न करते थे, क्योंकि इन्हीं ऋषियों ने इन्द्रका वर्णन करते समय किन्हीं अंशोंमें उस पर स्त्रैणत्वका आरोप किया है। जिन ऋषियों ने इन्द्र का स्त्रैणत्व बतलाने में आनाकानी नहीं की, वे ही मरुतों का वर्णन करनेमें उसका लेश मात्र भी उल्लेख नहीं करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मरुतों के अनुशासनपूर्ण बर्ताव में स्त्रैणत्व के लिए बिलकुल जगह नहीं थी। ध्यान में रहे कि मरुत् इन्द्र के सैनिक हैं और वे अपने सैनिकीय जीवन में स्त्रैणत्व से कोसों दूर रहते थे। आज हम योरप के तथा आस्ट्रेलिया सदृश सभ्य गिने जानेवाले राष्ट्रों के सैनिकों का अवलोकन करते हैं, तो पता चलता है कि यदि वे नगरों में घूमने-फिरने लगें और कहीं महिलाओं पर उनकी निगाह पड जाए तो असभ्य एवं उच्छृंखलतापूर्ण बर्ताव करने में हिचकिचाते नहीं। यह बात सबको ज्ञात है, अतः इस सम्बन्ध

में अधिक लिखना उचित नहीं जँचता । हाँ, इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इन सभ्य पाश्चात्यों को अपने सैनिकों के महिला-विषयक संयम के बारेमें अभिमानपूर्वक कहना दूभर ही है ।

लेकिन मरुतों के वैदिक काव्य में स्त्रैणत्व के वर्णन का पूर्णतया अभाव है । यह तो विशुद्ध वीरकाव्य है । ऐसा कहे बिना नहीं रहा जाता कि हम भारतीयों के लिए यह बडे ही गौरव एवं आत्मसंमान की बात है । यूं कहने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती है कि, जो संयमपूर्ण जीवन बिताना सुसभ्य योरपीय सैनिकों के लिए असंभव तथा दूभर हुआ, वही इन मरुतों के लिए एक साधारणसी बात थी ।

इस समूचे काव्यमें नारियोंके सम्बन्धमें सिर्फ १६ उल्लेख पाये जाते हैं, जिनका यहाँपर विचार करना उचित जान पडता है ।

नारीके तुल्य तलवार ।

गुहा चरन्ती मनुषो न योषा । (ऋ० १।१६७।३)

' वीरों की तलवार (परदेमें रहनेवाली) मानव-स्त्री के तुल्य लुक छिपकर मियान में रहती है । ' यहाँ निर्देश है कि कुछ मानव-नारियाँ घर में गुप्त रूप से निवास करती थीं । बेशक, यह वर्णन तो परदा-प्रथा के समकक्ष दीख पडता है । तलवार तो हमेशा मियान में पडी-रहती है, लेकिन केवल लडाई के मौकेपर ही बाहर आ जाती है, ठीक उसी प्रकार घरों में अदृश्य एवं गुप्त रूप से रहनेवाली महिलाएं धार्मिक अवसरों पर ही सभासमाजों में चली आती थीं; यही इस उपमा का आशय दिखाई देता है । प्रतीत होता है कि उस काल में ऐसी प्रथा प्रचलित रही हो कि किन्हीं खास अवसरों पर जैसे धर्मकृत्य या सम्मेलन आदि के समय स्त्रियों को उपस्थित होने में कुछ भी रुकावट नहीं थी, परन्तु अन्यथा देवियाँ घरों के भीतर ही काल-यापन करती थीं ।

उपर्युक्त वर्णन तो सती साध्वी महिला के लिए लागू पडता है और इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की स्त्री को ' साधारण स्त्री ' कहा गया है । जिसने सतीत्व से मुँह मोड लिया हो वह ' साधारण स्त्री ' कहलाती थी ।

साधारण स्त्री ।

साधारण्या इव मरुतः सं मिमिक्षुः ।
(ऋ० १।१६७।४)

' वायुगण चाहे जिस भूमि पर जल की वर्षा करते छूटते हैं, जिस प्रकार साधारण कोटि का पुरुष साधारण स्त्री से यथेच्छ बर्ताव करता है । ' इस उपमा में साधारण स्त्री का उल्लेख आया है । व्यभिचारकर्म में प्रवृत्त पुरुष किसी भी साधारण स्त्री से समागम करता है, उसी तरह मेघ चाहे जिस तरह की भूमि हो, उसपर वर्षा करता है । परन्तु जो सदाचरणी मानव है, वह अपनी कुलशीलसंपन्न नारी से ही नियमित ढंगसे व्यवहार करता है । इस वर्णनके ब्यौरेपर स्त्रियों एवं पुरुषों के दो तरह के विभेद हमारे सामने उठ खडे होते हैं—

१. एक विभाग में उन स्त्रियों का वर्णन है, जो हमेशा घर के अन्दर अन्तःपुर में निवास करती हैं और एकाध मौके पर धार्मिक समारंभों में ही समाजों में प्रकट होती हैं । ऐसी स्त्रियों से सदाचरणी पति धर्मानुकूल व्यवहार प्रचलित रखते हैं ।

२. दूसरी श्रेणी में साधारण स्त्रियों का अन्तर्भाव हुआ करता है, जो कि हमेशा बाहर घूमा करतीं तथा पुरुषों से अनियमित बर्ताव रख लेतीं ।

वेदने प्रथम विभाग में आनेवाली (गुहा चरन्ती योषा) अन्तःपुर में निवास करनेवाली महिलाओं की प्रशंसा की है और अन्य साधारण स्त्रियों की निन्दा की है । पहिले प्रकार की सती साध्वी महिलाएँ जब सभासमाजों में आ दाखिल होती हों, तब (मा ते कशप्लकौ दृशन् । ऋ. ८।३३।१९) उन की टाँगें तथा पिंडलियाँ दृष्टिगोचर न रहने पावें, ऐसी आज्ञा वेदने दी है। वेद में ऐसे भी आदेश पाये जाते हैं कि जनता के मध्य संचार करते समय नारियों को सतर्क रहना चाहिये कि कहीं उन का अंगोपांग दीख न पडे इसलिये अपना समूचा शरीर भलीभाँति वस्त्रों से ढँकना चाहिये ।

उत्तम माताओंके खिलाडी पुत्र ।

शिशूलाः न क्रीळाः सुमातरः (ऋ. १०।७८।६)

' उत्तम श्रेणी के माताओं के पुत्र खिलाडी होते हैं । '

ये उत्तम माताएँ अर्थात् ही ऊपर बतलायी हुई साध्वी महिलाओं में पाई जाती हैं। इन्हें 'सुमाता' कहा है। दूसरी जो साधारण महिलाएँ होती हैं, वे सुमाता नहीं बन सकतीं। इस से स्पष्ट है कि, उत्तम सन्तान होने के लिये संयमशील बर्ताव की आवश्यकता है।

महिलाओं के समान वीर अलंकृत तथा विभूषित होते हैं।

मरुतों के वर्णन में अनेक बार ऐसा वर्णन आया है कि, ये वीर सैनिक अपने आपको स्त्रियों के समान विभूषित करते हैं-(प्र ये शुम्भन्ते जनयो न। ऋ. १।८५।१) 'स्त्रियों की नाईं ये वीर अपने शरीरों की सजावट खूब कर लेते हैं।' हम देखते हैं कि आधुनिक युगमें योरपीय प्रणालीके अनुसार सुसज्ज होनेवाले सैनिक भी महिलाओं की तरह ही खूब बनावसिंगार करते हैं। प्रत्येक आभूषण हर किस्मका हथियार, हरएक तरह का कपडा साफ सुथरे, खूब झाडपोंछ कर रखे हुए, व्यवस्थित तथा चमकीले बनाकर ही खूब अच्छी तरह दीख पडे इस ढंग से धारण कर लेने चाहिए। इस अनुशासनका पालन वर्तमानकालीन सेना में स्पष्ट दिखाई देता है। महिलाएँ जिस प्रकार आईने में बारंबार अपनी आकृति देखकर वेशभूषा कर लेती हैं और सतर्कतापूर्वक साजसिंगार कर चुकनेपर ही खूब बनठनकर बाहर चली जाती हैं, ठीक वैसे ही ये वीर सिपाई यथेष्ट अलंकृत हो खूब ठाठ बाट या सजधजसे जगमगानेवाले हथियारों को तथा आभूषणों को धारण कर यात्रा करने निकल पडते हैं।

यहाँपर, आधुनिक योरपीय सैनिकों के वर्णन में तथा वेद में दर्शाये ढंग से मरुतों के वर्णन में विलक्षण समानता दिखाई देती है जो कि सचमुच प्रेक्षणीय है। मरुतोंके इस सिंगारके संबंधमें और भी उल्लेख पाये जाते हैं जिनमें से कुछ एक उद्धृत किये जाते हैं, सो देखिए—

यज्ञदृशः न शुभयन्त मर्याः।
(ऋ. ७।५६।१६) (३६०)

गोमातरः यत् शुभयन्ते अञ्जिभिः।
(ऋ. १।८५।३) (११५)

'यज्ञ-समारंभ देखने के लिये आये हुए लोग जिस प्रकार अलंकृत होकर अच्छी वेशभूषा से सुसज्ज बनकर आया करते हैं, उसी प्रकार मातृभूमि को माता माननेवाले वीर अपने गणवेश से सजे हुए रहते हैं।' मरुत् जो वेशभूषा करते हैं तथा अपनी जो शोभा बढाते हैं, वह सारी उनके अपने गणवेशपर ही निर्भर है। मरुतों का गणवेश उन सब के लिये समान (अर्थात् युनिफॉर्म के तौरपर बनाया हुआ) रहता है। उन के जो शस्त्रास्त्र एवं वीरभूषण हैं, उन से ही उनकी वेशभूषा एवं सजावट सिद्ध हो जाती है। ये वीर मरुत् चाहे जैसी भूषा नहीं कर सकते, अपितु उन का जो गणवेश निर्धारित हो चुका हो उसी से यह अलंकृति करनी पडती है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि, आधुनिक सैनिकों के तुल्य ही इन्हें अपना गणवेश साफसुथरा एवं जगमगानेवाला बनाकर रखना पडता था। इसी वर्णन को और भी देखिए—

स्वायुधासः इष्मिणः सुनिष्काः।
उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः॥
(ऋ. ७।५६।११) (३५५)

सस्वः चित् हि तन्वः शुम्भमानाः।
(ऋ. ७।५९।७) (३८९)

स्वक्षत्रेभिः तन्वः शुम्भमानाः।
(ऋ. १।१६५।५) (४८४)

"उत्कृष्ट हथियार धारण करनेहारे, श्रेष्ठ मालाएँ पहननेवाले तथा वेगपूर्वक आगे बढनेवाले ये वीर खुद ही अपने शरीरोंको सुशोभित करते हैं। यद्यपि ये सुगुप्त जगह रहते हैं, तथापि अपनी शरीरभूषा बराबर अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। अपने अन्दर विद्यमान क्षात्रतेजसे शरीरशोभा को ये वृद्धिंगत करते हैं।'

इस प्रकार इन सूक्तों में हम इन वीरों के निजी बाह्य शारीरिक भूषा तथा अलंकृति के संबंधमें उल्लेख पाते हैं।

पिशा इव सुपिशः। (ऋ १।६४।८) (११५)

अनु श्रियः धिरे। (ऋ. १।१६६।१०) (१६७)

सुचन्द्रं सुपेशसं वर्णं दधिरे।
(ऋ. २।३४।१३) (२११)

महान्तः वि राजथ। (ऋ. ५।५५।२) (२६६)

रूपाणि चित्रा दद्दर्श। (ऋ. ५।५२।११) (२२७)

'ये वीर बडे ही शोभायमान दिखाई देते हैं, बडी भारी शोभा इन में है, चौंधियानेवाली सुन्दर कांति धारण

करते हैं। ये बहुत सुहाते हैं, बडे सुन्दर दीख पडते हैं।' इस भाँति इन का वर्णन किया है। इन वर्णनों से इन वीरों की चारुता पर स्पष्ट आलोकरेखा पडती है। इस से एक बात स्पष्ट होती है कि ये वीर मरुत् भद्देपन से कोसों दूर रहा करते थे, सदैव अपने सुन्दर गणवेश से विभूषित हो व्यवस्थित ढंग से रहा करते थे, अतएव उनका प्रभाव चतुर्दिक् फैल जाता था।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट दिखाई देता है कि, आधुनिक सैनिकों के समान ही वीर मरुतों का रहन-सहन था। इस सम्बन्ध में और भी कौनसी जानकारी प्राप्त होती है, सो देख लेना चाहिये।

एक ही घर में रहनेवाले वीर।—

सभी मरुतों के निवास के लिए एक ही घर बनाया जाता था, या एक बडे विशाल घर में ये समूचे वीर रहा करते थे। इस सम्बन्ध के उल्लेख देखिए—

समोकसः इषुं दधिरे। (ऋ. १।६४।१०) (११७)
ऊरुक्षयाः सगणा मानुषासः।
(अथर्व. ७।७७।३) (४४७)
यः उरु सदः कृतम्। (ऋ. १।८५।६) (१२८)
उरु सदः चक्रिरे। (ऋ. १।८५।७) (१२९)
समानस्मात्सदसः। (ऋ. ५।८७।४) (३२१)

'एक घर में रहनेवाले ये वीर बाण धारण करते हैं। इन के लिए बहुत बडा विस्तृत मकान तैयार किया जाता था।' उसी प्रकार—

सनीळाः मर्याः स्वश्वाः नरः।
(ऋ. ७।५६।१) (३४५)
सवयसः सनीळाः समान्याः। (ऋ. १।१६५।१)
(इन्द्रः ३२५०)

'(स-नीळाः) एक घर में रहनेवाले (मर्याः) ये मरने के लिए तैयार वीर अच्छे घोडोंपर बैठते हैं। वे सभी समान सम्मान के योग्य हैं और समान अवस्थावाले हैं।' यह समूचा वर्णन आधुनिक सैनिकों के वर्णन से मेल खाता है। आज दिन भी सैनिक एक मकान में (एक बैरक में) रहते हैं, सब की अवस्था भी लगभग एकसी रहती है, सब एक ही श्रेणी के होने के कारण अविषम रूप से सम्मान के योग्य समझे जाते हैं, उन में ऊँच-नीच के भाव नहीं के बराबर होते हैं, क्योंकि सब की समानता सर्वमान्य होती है।

संघ बनाकर रहनेवाले वीर।

ये वीर मरुत् सांघिक जीवन बिताने के आदी थे। सात सात की कतार में चलते हुए, चढाई करते समय सब मिलकर एक कतार में शत्रुदलपर टूट पडनेवाले थे। इस के उल्लेख देखिए—

मारुताय शर्धाय हव्या भरध्वम्।
(ऋ. ८।२०।९) (९०)
मारुतं शर्धं अभि प्र गायत। (ऋ. १।३७।१) (६)
मारुतं शर्धः उत् शंस। (ऋ. ५।५२।८) (२१४)
वन्दस्व मारुतं गणम्। (ऋ. १।३८।१) (३५)
मारुतं गणं नमस्य। (ऋ. ५।५२।१३) (२१९)
सप्तय: मरुतः। (ऋ. ८।२०।२३) (१०४)
गणश्रियः मरुतः। (ऋ. १।६४।९) (११६)

'मरुतों के संघ के लिए अन्न का संग्रह करो, मरुतों के संघका वर्णन करो, मरुतों के समुदाय के लिए अभिवादन करो, सात सात की पंक्ति बनाकर ये चलते हैं और समुदाय में ये सुहाते हैं।' उसी प्रकार—

मारुतं गणं सश्चत। (ऋ. १।६४।१२) (११९)
वृष-व्रातासः पृषतीः अयुग्ध्वम्।
(ऋ. १।८५।४) (१२६)
स हि गणः युवा। (ऋ. १।८७।४) (१४८)
वृषा गणः अविता। (ऋ. १।८७।४) (१४८)
व्रातं व्रातं अनुक्रामेम। (ऋ. ५।५३।११) (१४४)

'मरुतों के समुदाय को प्राप्त करो। यह संघ (वृष-व्रातासः) बलिष्ठों का है। वह अपने रथ को धब्बेवाली घोडियाँ या हरिनियाँ जोतता है। यह युवकों का समुदाय है जो हमारी रक्षा करता है। इस समुदाय के साथ अनुक्रम से हम चलते रहें।'

उपर्युक्त मंत्रांशोंमें दर्शाया है कि ये वीर सांघिक जीवन बितानेवाले और सामुदायिक ढंगपर कार्य करनेवाले हैं। संघ बनाकर रहना, तुल्य वेश धारण करना, सात सातकी कतार में चलना, सब के सब युवक होना या समान अवस्थावाले होना अर्थात् इनमें छोटे बालक एवं वृद्ध मनुष्यों का अभाव तथा समूची जनता की रक्षा करने का

गुरुतर कार्यभार कंधे पर ले लेना, यह सारा का सारा वर्णन वर्तमानकालीन सैनिकों के वर्णन के तुल्य ही है।

(१) शर्ध, (२) व्रात और (३) गण, इस प्रकार इनके समुदाय के तीन प्रकार हैं। गण में ८०० या ९०० सैनिकों की संख्या का अन्तर्भाव होता होगा, ऐसा पृष्ठ ९६ पर दर्शाने की चेष्टा की है। पाठक इधर उसे देख लें। इसी प्रकार पृष्ठ १६४-१६६ पर एक चित्रद्वारा यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि इन गणों में मरुत् किस ढंग से खड़े रहा करते थे। पाठक उस समूचे वर्णनको अवश्य देख लें। हमारा अनुमान है कि शर्ध और व्रात में संख्या कुछ अंश तक अपेक्षा कृत न्यून हो। कुछ भी हो, अधिक निश्चित प्रमाण मिलने तक इस संबंधमें निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

इससे एक बात सुनिश्चित ठहरी कि मरुत् संघ बनाकर रहा करते थे। इतना जान लेने से यह सहज ही में ज्ञात हो सकता है कि वे एक ही घर में रहा करते थे और एक पंक्ति में सात सात वीर खड़े हुआ करते थे।

सभी सदृश वीर।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते।
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋ. ५।६०।५)
ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदो-
ऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। (ऋ. ५।५९।६)

'ये सभी वीर मरुत् साम्यवादी हैं क्योंकि इनमें कोई भी (अज्येष्ठासः) उच्चपद पर बैठनेवाला नहीं तथा (अकनिष्ठासः) न कोई निम्नश्रेणी में गिना जाता है और (अमध्यमासः) कोई मँझले दर्जेका भी नहीं पाया जाता है। ये सब (भ्रातरः) आपस में भ्रातृवत् बर्ताव करते हैं, वे साम्यावस्था का उपभोग लेनेवाले बन्धुगण हैं। ये सभी इकट्ठे होकर (सौभगाय सं वावृधुः) अपने उत्तम भाग्य के लिए अविरोध-भाव से भली भाँति चेष्टा करते हैं।'

मतलब यही है कि, ये सभी वीर समान योग्यतावाले हैं। समान आयुवाले, समान डीलडौलवाले तथा एक ही अभ्युदय के कार्य के लिए आत्मसमर्पण करनेवाले ये वीर हैं। पाठक अवश्य देख लें कि, यह समूचा वर्णन आधुनिक सैनिकों के वर्णन से कितना अभिन्न है। सब का गणवेश समान, सब का रहनसहन समान, सबके हथियार समान, रहने के लिये सब को एक ही घर, एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये सब वीरों का एक कार्य में सतर्कतापूर्वक जुट जाना, इस भाँति यह मरुतोंका वर्णन अर्थात् ही आधुनिक सैनिकों के वर्णन से आश्चर्यजनक साम्य रखता है। दोनोंमें किसी तरह की विभिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती है। अपितु अनूठी समता दिखाई देती है।

मरुतों का गणवेश (या युनिफार्म)।

मरुत् देवराष्ट्र के सैनिक हैं। देखना चाहिए कि, इनका गणवेश किस तरह का हुआ करता था।

सरपर शिरस्त्राण।

ये वीर अपने मस्तकपर शिरस्त्राण या साफा रख लेते थे। शिरस्त्राण लोहे का बनाया हुआ तथा सुनहली बेल-बुटी से सुशोभित रहता और अगर साफा पहना जाता तो वह रेशमी होता तथा पीठपर उस का कुछ अंश छूटा रहता था। इस विषय में देखिए—

शीर्षन् हिरण्ययीः शिप्राः व्यञ्जत।
(ऋ. ८।७।२५) (७०)
हिरण्यशिप्राः याथ। (ऋ. २।३४।३) (२०१)
शीर्षसु नृम्णा। (ऋ. ५।५७।६) (२८९)
शीर्षसु वितता हिरण्ययीः शिप्राः।
(ऋ. ५।५४।११) (१६०)

'सरपर रखा हुआ शिरस्त्राण सुनहली बेलबूटीसे सुशोभित हुआ करता और रेशमी साफे भी पहने जाते थे।' इस से ज्ञात होता है कि, उन के गणवेश में शिरोभूषण किस ढंग का रहा करता था।

सबका सदृश गणवेश।

ये अञ्जिभिः अजायन्त। (ऋ. १।३७।२) (७)
एषां अञ्जि समानं रुक्मासः विभ्राजन्ते।
(ऋ. ८।२०।११) (९१)
वपुषे चित्रैः अञ्जिभिः व्यञ्जते।
(ऋ. १।६४।४) (१११)
गोमातरः अञ्जिभिः शुभयन्ते।
(ऋ. १।८५।३) (११५)
वक्षःसु रुक्मा अंसेषु एताः रभसासः अञ्जयः।
(ऋ. १।१६६।१०) (१६७)

ते क्षोणीभिः अरुणेभिः अञ्जिभिः ववृधुः ।
(ऋ. २।३४।१३) (२११)
अञ्जिभिः सचेत । (ऋ. ५।५२।१५) (२३१)
ये अञ्जिषु रुक्मेषु खादिषु स्रक्षु श्राया: ।
(ऋ. ५।५३।४) (२३७)

'ये वीर अपने अपने वीरभूषणोंके साथ प्रकट होते हैं। इनके गणवेश सब के लिए सदृश बनाये दीख पडते हैं और इनके गलेमें सुवर्णहार सुहाते हैं। भाँति भाँति के आभूषणोंसे वे अपने शरीरों को सुशोभित करते हैं। भूमि को माता समझनेवाले ये वीर अपने गणवेशों से स्वयं सुशोभित होते हैं। इनके वक्षःस्थल पर मालाएं तथा कंधों पर गणवेश दिखाई देते हैं। वे केसरिया वर्ण के गणवेशों से युक्त होकर अपनी शक्ति बढाते हैं। वे सदा गणवेशोंसे युक्त होते हैं और वे वस्त्रालंकार, स्वर्णमुद्राओं के हार, वलयकटक एवं मालाएं पहनते हैं।'

उपर्युक्त अवतरणों से उनके गणवेश की कल्पना आ सकती है। 'अञ्जि' पदसे गणवेशका बोध होता है। उनके कपडे केसरिया वर्ण के तथा तनिक रक्तिम आभावाले होते थे। 'अरुणेभिः क्षोणीभिः' इन पदों से स्पष्ट सूचना मिलती है कि उनका पहनावा अरुण-केसरिया वर्णवाला हुआ करता था। वे वक्षःस्थलों पर स्वर्णमुद्रा सदृश अलंकारों के गहने पहनते जो उनके केसरिया कपडों पर खूब सुहाने लगते थे। हाथोंमें तथा पैरोंमें वलयसदृश आभूषण सुहाते थे। शायद ये विशेष कार्यवाही करनेके निमित्त मिले हुए वीरत्वदर्शक आभूषण हों। इनके अतिरिक्त ये पुष्प-मालाएं भी धारण कर लेते। इनके इस गणवेश के बारे में निम्न मन्त्र देखनेयोग्य हैं।

शुभ्रखादयः ... यजथ । (ऋ. ८।२०।४) (८५)
रुक्मवक्षसः । (ऋ. ८।२०।२२) (१००)
(ऋ. २।३४।२)
वक्षःसु शुभे रुक्मान् अधियेतिरे ।
(ऋ. १।६४।४) (१११)
वक्षःसु विरुक्मतः दधिरे ।
(ऋ. १।८५।३) (१९५)
रुक्मैः आ विद्युतः असृक्षत ।
(ऋ. ५।५२।६) (२२२)
पत्सु खादयः वक्षःसु रुक्माः ।
(ऋ. ५।५४।११) (२६०)
रुक्मवक्षसः वयः दधिरे । (ऋ. ५।५५।१) (२६५)
रुक्मवक्षसः अश्वान् आ युञ्जते ।
(ऋ. २।३४।८) (२०६)

'इनके वक्षःस्थल पर स्वर्णमुद्राओं के हार रहते हैं, पैरों पर नूपुर और उरोभाग में मालाएं रहती हैं जो कि जगमगाती हैं। ये आभूषण बिलकुल स्वच्छ एवं शुभ्र होते हैं और बिजली के तुल्य चमकते हैं। गले में हार धारण करनेहारे ये वीर अपने रथों में घोडे जोतते हैं।'

इस वर्णन से इनके गणवेश की कल्पना की जा सकती है। शरीरपर केसरिया रंग के कपडे, वक्षःस्थलपर स्वर्ण-मुद्राहार, हाथपैरों में वीरत्वनिदर्शक वलयकटक या कँगन सभी साफ सुथरे, चमकीले एवं दामिनी के तुल्य जग-मगानेवाले रहा करते। ये सातसातकी पंक्ति बनाकर खडे रहा करते और दोनों ओर दो पार्श्वरक्षक अवस्थित रहते। इस भाँति सात कतारोंका सृजन हो जाता और जब बडी सजधज एवं ठाटबाट से ये वीर सज्ज हो जाते तो (गण-श्रियः) संघ के कारण ये बहुत सुहाने लगते। उनकी शोभा आधुनिक सुसज्ज सेनाके समकक्ष हो जाती है।

हथियार ।

भाले ।

ये ऋष्टिभिः अजायन्त । (ऋ० १।३७।२) (७)
बाहुषु अधि ऋष्टयः दविद्युतति ।
(ऋ. ८।२०।११) (९२)
अंसेषु ऋष्टयः नि मिमृक्षुः । (ऋ. १।६४।४) (१११)
भ्राजदृष्टयः उज्जिघ्नते । (ऋ. १।६४।११) (११८)
भ्राजदृष्टयः स्वयं महित्वं पनयन्त ।
(ऋ. १।८७।३) (१४७)
भ्राजदृष्टयः दृळ्हानि चित् अचुच्यवुः
(ऋ. १।१६८।४) (१८६)
भ्राजदृष्टयः मरुतः आगन्तन ।
(ऋ. २।३४।५) (२०३)
भ्राजदृष्टयः वयः दधिरे । (ऋ. ५।५५।१) (२६५)
ये ऋष्टिभिः विभ्राजन्ते । (ऋ. १।८५।४) (१९६)

Regd No B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छप चुका है । इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं । अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है अथवा यही इसकी विशेषता है ।

गीता— के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १) रु० डा० व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा ।

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। 'वैदिक धर्म' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज मू० १) सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है । मूल्य केवल ।=), डा० व्य० =)

आसन ।

' योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति '

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं । इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २ दो रु० और डा० व्य० ।≥) सात आना है । म० आ० से २।≥) रु० भेज दें ।

आसनोंका चित्रपट- २०''×२७'' इंच मू० ≈) रु., डा. व्य. -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध